ओ३म्

अथ दिवाकरप्रकाशः ॥

विदित हो कि माननीय स्वामी दयानन्दसरस्वती जी के रचे सत्यार्थ-प्रकाश में दोषान्वेषण की बुद्धि से जो पं० ज्वालाप्रसाद जी ने "दयानन्द-तिमिरभास्कर" नामका पुस्तक प्रकाशित किया था उस के उत्तर में सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित सत्यवैदिकसिद्धान्तों के रक्षार्थ उसका मण्डन तथा द०ति-भास्कर का खण्डनरूप "भास्करप्रकाश" नाम पुस्तक हमने प्रकाशित किया था जिसमें पण्डित ज्वालाप्रसाद जीके मिथ्यादोषारोपणों का भेद दिखला कर सत्यार्थप्रकाशलिखित वैदिकविषय निरूपण करके उनकी पुष्टि कीगई थी॥

अब पण्डित ज्वालाप्रसादजी के भाई पण्डित बलदेवप्रसाद जीने उस के ३ समुल्लासों के उत्तर में "धर्मदिवाकर" नाम पुस्तक प्रकाशित किया है। यद्यपि इस पुस्तक में पं० बलदेवप्रसाद ने प्रायः हमारे लेखों पर ही कटाक्ष किये हैं और सत्यार्थप्रकाशस्थ विषयों के खण्डन में बहुत कम परिश्रम किया है जो कि वास्तव में सत्यार्थप्रकाश के विषयों का खण्डन और अपने पौराणिक विषयों का मण्डन उन का कर्त्तव्य था सो बहुत कम किया है, इस लिये पं० बलदेवप्रसाद जी के लेख से वैदिकसिद्धान्त के मानने वाले आर्य-सामाजिक समुदाय की कोई हानि नहीं, और इसलिये इस का उत्तर देना भी बहुत आवश्यक नहीं, परन्तु तौभी जिन लोगों को केवल "धर्मदिवाकर" ही देखने का अवसर मिलेगा उन्हें भ्रम न हो, इसलिये इस धर्मदिवाकर के अनुचित अंशों के उत्तर में यह "दिवाकरप्रकाश" नामक लेख का आरम्भ किया जाता है ॥

धर्मदिवाकर पं० ५ भूमिका-दयानन्दीय पन्थ इस भारतवर्ष में संस्कृतानभिज्ञ जनों में यत्र तत्र प्रचलित होने लगा है ॥

उत्तर-वैदिकमार्ग को दयानन्दीय कहना अयुक्त है जब तक उस की अवैदिकता सिद्ध न करें। जब कि वेद और उपनिषदों के भाष्यकार, आक्स फ़ोर्ड यूनिवर्सिटी के किसी समय संस्कृताध्यापक, शास्त्री आदि पदवी को प्राप्त, संस्कृत में भाष्य और शास्त्रार्थों के कर्ता लोग आर्यसमाज में उपस्थित हैं तब संस्कृतानभिज्ञों में प्रचार लिखना भी वास्तव के विरुद्ध है। और भारतवर्ष के अतिरिक्त फ़िलेडिलफ़िया अमेरिका देश तक आर्यसमाज का प्रचार इस थोड़े से काल में होगया है, और ईसाई मुसलमान आदि बहु

प्रवृत्त मतों से भी अधिक आर्यसमाज का प्रभाव है तौ यत्र तत्र प्रचलित बताना ठीक नहीं, आप ही बताइये कि यदि आर्यसमाज का प्रचार आप अल्प और अल्पशक्तियों पर निर्भर समझते हैं तौ ईसाई, मुसलमान बौद्ध आदि जो आप के अभिमत सनातन धर्म पर आघात पहुंचाया ही करते हैं आप उन को छोड़ केवल आर्यसमाज के ही ऊपर क्यों दत्तदृष्टि हैं, यथार्थ में इस बात को आप का जी जानता है कि आर्यसमाज ही ऐसा बलिष्ठ होने वाला है जो पृथिवी भर के अविद्या जन्य मतमान्तरान्धकार का निर्मूल करने को समर्थ है। तभी तौ सब काम छोड़ आप की दृष्टि में यही खटकता है।

धर्मदिवा० पं०१४—यदि वे संस्कृत विद्या जानते तौ किसी प्रकार सनातन धर्म का त्याग नहीं करते॥

उत्तर—जी हां, नीलकण्ठ शास्त्री जो ईसाई पादरी बन गये वे भी तौ संस्कृत के ज्ञाता ही हैं॥

धर्मदि० पं० ३० जगद्विख्यात.........पं० ज्वालाप्रसाद

उत्तर—क्यों न हो, भाई भी भाई को जगद्विख्यात न कहे तौ कौन कहे?

धर्मदि० पृ० ३ भूमिका पं० ३ सत्यार्थप्रकाश का ही खण्डन होगया तब उन के अनुयायी वर्ग कहां रहे?

उ०—क्या अपने मुख से कथनमात्र से ही होगया किंवा कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है? यदि प्रमाण है तौ उसी का लिखना ठीक था, लेख बढ़ाने से क्या प्रयोजन, यूं तौ हम भी कह सक्ते हैं कि जब पुराणों ही का खण्डन हो गया तब पुराणानुयायियों की गिनती क्या है? परन्तु ऐसा लिखने से अर्थ सिद्धि कुछ नहीं, किन्तु वेदादि शास्त्रों के अनुसार किसी विषय का विधि निषेध लिखना ही सर्वसाधारण का कल्याणकारक होने से विद्वान् को कर्त्तव्य है, वृथा मन के लड्डू बनाना निष्फल है॥

फिर धर्मदि० पं० ६ पृ० ३-अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानिकेशरी॥

उत्तर—वाहरे सिंह! आप के भ्राता सिंह नहीं हैं क्या जिन्हों ने गोमायुरुत (आप के ही मत में) का भी अनुहुंकार आरम्भ कर दिया॥

धर्मदि० पृष्ठ ३ पं० १३ भूमिका-धर्मदिवाकर के पाठकों को एक २ प्रति दयानन्द तिमिरभास्कर की अवश्य ही अपने पास रखनी उचित है॥

उत्तर-परन्तु उस के साथ, प्रकाशमान "सत्यार्थप्रकाश, भास्करप्रकाश, और (दिवाकरप्रकाश की भी एक २ प्रति रखनी उचित है, जिस से पौराणिक मत का भेद खुलता जावे॥ इति भूमिकासमीक्षणम्॥

धर्मदि० पृ० १ पं० ३—तुलस्याभासोपशमनं वा

उत्तर—हमने जो भास्करप्रकाशका अपर नाम "ज्वालाभासोपशमनं वा" करके लिखा था सो तौ इसलिये ठीक था कि ज्वाला अग्निकी होती है और उस का उपशमन बुझाना भी बन सकता है, परन्तु आप उसका अनुसरण करने तौ चले परन्तु पूरा अनुसरण न बन पड़ा। सच है सिंह का चित्र तौ बन सकता है परन्तु वह पराक्रम तौ उस में नहीं आसक्ता। तुलसी का उपशमन क्या ! क्या आप अब तुलसी की माला का खण्डन किया करेंगे ? यह तौ वही मसल हुई कि हम भी पांच ही टके लेंगे। इसीबिरते पर आर्यों को संस्कृतानभिज्ञ लिखते हैं ?

धर्मदि० पृ० १ पं० १८ आपने यह भास्करप्रकाश लिख कर इतना श्रम क्यों उठाया ?

उत्तर—इस लिये कि सत्यार्थप्रकाशस्य सत्य की रक्षा और तिमिरभास्कर के वृथादोषारोपों का मर्म सब लोग जान लें ॥

धर्मदिवाकर पृ० २ पं० १४ संस्कृत जानने वाले आर्य भी प्रायः संशय निवृत्यर्थ हम को पत्र लिखते हैं ॥

उ०—महाशय जी ! आपने " संस्कृत न जानने वाले,, का "न ,, क्यों उड़ा दिया जिस से अर्थ ही बदल गया, ऐसी ही कतर ब्योंत से पुस्तक पूर्ण किया है ? संस्कृत न जानने वाले ही संशय में कोई पड़े हो, संस्कृत जानने वाले आर्यों पर इस का प्रभाव ही क्या होता ॥

धर्मदि० पृ० २ पं० २१ सत्य जगत् भर में व्याप्त हो जाता है इतने ही देशों में नहीं द० ति० भास्कर, अमेरिका स्पेन ट्रिनिडाड आदि स्थानों में पोल खोलने को जा चुके हैं, ॥

उत्तर—क्या सत्य ही जगत् में व्याप्त है, असत्य नहीं, सच बूझो तो आप के मत में तो कलियुग में असत्य ही अधिक शीघ्र प्रचार पाता है, अमेरिकादि देशों में प्रथम सत्यार्थप्रकाश गया तब तौ यह द० ति० भास्कर गया अन्यथा इस का क्या काम था। बस यदि जगत् में अधिक प्रचार होने से द० ति० भास्कर सत्य है तो सत्यार्थप्रकाश आप के मत में भी उस से अधिक सत्य ठहरा जिस को खेमराज जैसे पुस्तकों के प्रसिद्ध व्यापारी का आश्रय विना लिये ही अब तक ५:०० की ५ वीं आवृत्ति छप चुकी है ॥

धर्मदि० पृ० २ पं० २४ नवीन आर्यों को सन्देह ही नहीं उठा है, बल्कि अनेकों ने समाज छोड़ दिये हैं ॥

उत्तर—प्रथम तो पुराण किसी ने नहीं छोड़ा और कहीं किसी मन्दबुद्धि पुरुष को संशय भी हो गया हो तो उस के दूसरी ओर लाखावधि आर्य भी तो पौराणिकमत छोड़ वैदिक बन चुके हैं, और बनते ही जाते हैं ॥

धर्मदि० पृ० ३ पं० २१ ग्रन्थ का नाम "भास्करप्रकाश,, रक्खा है, प्रथम तो नाम ही अशुद्ध है क्योंकि "भाः करोतीति भास्करः,, अर्थात् जो प्रकाश करै उस का नाम भास्कर होता है फिर प्रकाश का प्रकाश क्या होगा ॥

उत्तर—तभी तो व्याकरण में अड़ने को हम आप को निषेध करते हैं। भला "करोति,, का "अर्थ करता है,, तब भास्कर नाम प्रकाश करने वाले का हुआ न कि प्रकाश का। फिर "प्रकाश" यह अर्थ कब होसक्ता है। सुनिये—

भाः प्रकाशस्तं करोतीति भास्करः सूर्यस्तस्य प्रकाशः= भास्करप्रकाशः। यथा सूर्यस्य प्रकाशोऽन्धकारं नाशयति तथैव ग्रन्थस्याऽस्य प्रकाशोपि अविद्याऽन्धकारनिर्मूलक इति बोध्यम् ॥

भाः प्रकाश को कहते हैं उस का कर्त्ता सूर्य=भास्कर हुआ। उसी सूर्य= भास्कर का प्रकाश जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति करताहै उसी प्रकार इस ग्रन्थ का प्रकाश भी अविद्या कल्पित नाना मतों का अन्धकार मिटाताहै। क्या आपने शीघ्रबोध में भी प्रथम श्लोक "भासयन्तं जगद्भासा" का प्रयोग नहीं देखा जो "करोति" के कर्म 'भासम्,, के स्थान में "भा" लिख मारा। व्याकरण का ऐसा अजीर्ण है तभी तो आर्यों को संस्कृतानभिज्ञ बताते हैं ॥

धर्मदि० पृ० ४ पं० ९ मित्रादि नाम से ईश्वर का ही ग्रहण करना चाहिये इस विषय में सत्यार्थप्रकाश में कोई वैदिक प्रमाण नहीं लिखा ॥

उ०—सत्यार्थप्रकाश में पुस्तक खोलकर देखिये कि ऋग्वेद मं० सू० १६४ मं० ४६ का प्रमाण स्पष्ट दिया है कि—

इन्द्रंमित्रंवरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान् ।
एकंसद्विप्राबहुधावदन्त्यग्निंयमं मातरिश्वानमाहुः ॥

इस मन्त्र का स्पष्ट अर्थ यही है कि (एकं सत) एक सत् स्वरूप को (विप्राः बहुधा वदन्ति) विप्र लोग बहुधा कहते हैं (इन्द्रं मित्रं वरुणमि- त्यादि) इन्द्र मित्र और वरुण इत्यादि। फिर आप का लिखना कैसा अन- र्गल है कि कोई वैदिकप्रमाण नहीं दिया। हम को आश्चर्य तो यह है कि इस प्रमाण को पं० ज्वालाप्रसाद जी और पं० बलदेवप्रसाद जी दोनों ने ही

दृष्टि से बाहर कर दिया और चुपके से आगे चल दिये। अब आप जो धर्म दि० पृ० ४ पं० १४ में लिखते हैं कि "अष्टौ पुत्रासो अदितेः। मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा च। अंशश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्चेति, इस का—

उत्तर—स्वामी जी ने वा हमने कहीं यह नहीं लिखा कि मित्रादि नाम से ईश्वर के अतिरिक्त अन्य अर्थ न लिया जावे। किन्तु प्रकरणानुसार लेना चाहिये। इस लिये उपासना स्तुति प्रार्थना के प्रकरण में परमात्मा, और व्यवहारिक प्रसंगो में अन्य पदार्थों के वाचक मित्रादि नाम समझने चाहियें। फिर आप के इस लिखने से क्या फल है कि अदिति के ८ पुत्रों के मित्रादि नाम हैं। अदिति के क्या आज कल भी कोई अपने पुत्रों के नाम मित्रचन्द्र इत्यादि रख सकता है परन्तु क्या उस के रखलेने से वे ऊपर लिखे वेदप्रमाणानुकूल परमेश्वर के नाम न रहेंगे? अवश्य रहेंगे॥

ध० दि० पृष्ठ ४ पं० १६ से—यजुर्वेद में भी यह अदिति के पुत्र लिखे हैं॥

महि त्रीणामवोस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य॥

यजुः अ० ३ मन्त्र ३१॥

(मित्रस्य) मित्र देवताओं की (अर्यम्णः) अर्यमा देवता की(वरुणस्य) वरुण देवता की (त्रीणाम्) इन तीनों देवता सम्बन्धी (महि) बड़ी(द्युक्षम्) श्रेष्ठ द्रव्यों से युक्त (दुराधर्षम्) तिरस्कार न पाने वाली (अवः) रक्षा हम को (अस्तु) हो॥ ३१॥

उत्तर—इस मन्त्र से पूर्व मन्त्र यह है—

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य।

रक्षा णो ब्रह्मणस्पते॥ ३। ३०॥ यजुः॥

जिस का अर्थ यह है कि (ब्रह्मणस्पते) हे जगदीश्वर! आप की कृपा से (मा,नः,शंसः,प्रणक्) नहीं हमारा, स्तोत्र, नष्ट हो। (अररुषः मर्त्यस्य) परधनहारी मनुष्य की (धूर्तिः) धूर्तता से (नः, रक्ष) हमें बचाओ॥

इस मन्त्र से अगले मन्त्र में "ब्रह्मणस्पते,, पद की अनुवृत्ति जाती है तो आप के लिखे अनुसार ही समस्त पदों का अर्थ सही, तब भी यह तात्पर्य निकला कि मित्र अर्यमा वरुण इन तीनों देवतों अर्थात् दिव्यगुण युक्त भौतिक पदार्थों से, हे ब्रह्मणस्पते! परमात्मन्! हमारी रक्षा हो। अर्थात् ऐसी कृपा कीजिये कि ये पदार्थ हम को सुखदायक हों॥

यह प्रकरण देवता अर्थ का है क्योंकि परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह इन से हमारी रक्षा करे। परन्तु "शन्नोमित्रः,, इस मन्त्र में साक्षात् मित्र वरुण से ही प्रार्थना है इस लिये वहां मित्र वरुण आदि पदों का वाच्य परमात्मा ही समझना ठीक है। अन्य देवता नहीं ॥

ध० दि० पृ० ४ पं० २५ से—

ते हि पुत्रासोअदितेः। यजुः। ३। ३३॥

ये ऊपर कहे आदिति के पुत्र हैं। इत्यादि ॥

उत्तर—निस्सन्देह यह अदिति के पुत्र हैं। इन से परमात्मा हमारी रक्षा करे। इस प्रसङ्ग में ये परमात्मा के नाम नहीं परन्तु "इन्द्रं मित्रं० ,, ऊपर लिखे प्रमाणानुसार जब ये नाम परमात्मा के भी हैं तो "शन्नोमित्रः" इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा ही अर्थ समझना ठीक है। और अदिति के पुत्र से भी यह तात्पर्य नहीं है कि मित्र वरुण आदि कोई प्राणी है। किन्तु जलादि भौतिक द्रव्यों के नाम हैं जो दिव्यगुणयुक्त होने से देवता और अदिति अखण्डित प्रकृति के पुत्र हैं। अदिति प्रकृति को कहते हैं, इस में प्रमाण—

चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै

अदिति विष्णु की पत्नी को कहते हैं क्योंकि प्रकृति और पुरुष जो सृष्टि के रचने वाले हैं उन में विष्णु व्यापक पुरुष है और उपादान कारण प्रकृति स्त्री वा पत्नी है। संसार में भी निमित्त कारण पिता और उपादान कारण माता होती है यद्यपि पिता का भी किञ्चित वीर्य उपादानकारण है परन्तु मुख्य करके समस्त शरीर में जन्मते समय जितने रस रक्त मांसादि होते हैं उन का उपादान माता ही है॥

ध० दि० पृष्ठ ५ पं० १८ यदि विश्वास के लिये कोई हमारे पास आवे तो हम उस लिखे हुवे का दर्शन करा सकते हैं। इत्यादि ॥

उत्तर—यदि आप सत्यार्थप्रकाश की आदि की लिखी कापी दिखला भी दें तो क्या आप के दिखलाने से यह सिद्ध होजायगा कि वह लेख श्रीस्वामी जी का ठीक सम्मत है। निदान तब भी तो वह स्वामी जी के बतलाने अनुसार पण्डितों का ही लेख ठहरेगा। और स्वामी जी उन दिनों हमारे देश की भाषा उत्तम प्रकार से नहीं जानते थे तो उन के आशय को भूल से वा जान बूझ कर पाठ में और तात्पर्य में भेद होना सम्भव ही है ॥

ध० दि० पृ० ५ पङ्क्ति २४—नानक कबीर साहब ईसाई मुसलमानों के ग्रन्थ भी स्वामी जी ने संस्कृत ही में देखे थे? अरबी की तालीम कहां हुई थी?

उ०—इन लोगों के मत सम्बन्धी पुस्तक प्रायः नागरी भाषा में मिलते हैं जो कालान्तर में देश भाषा जानकर उन्होंने देखे और जो कुछ न देखासो मुं० इन्द्रमणि आदि उस समय के अरबी के विद्वान् लोगों से जानकर लिखा॥

ध० दि० पृष्ठ ७ पं० २ कौन सनातनधर्मी अल्लोपनिषद् का प्रमाण करता है किसने माना है। कहां उस की गणना है १०८ उपनिषदों के नाम मुक्तिकोपनिषद् में लिखे हैं उस में कहीं अल्लोपनिषद् का नाम नहीं। इत्यादि॥

उ०-चलो अच्छा हुआ आज एक कट्टर सनातनी ने अल्लोपनिषद् के मानने से नकार तो किया। परमात्मा सनातनियों को सुमति दे कि वे धीरे२ शङ्कराचार्य के भाष्य तक १० वा १२ उपनिषद् के अतिरिक्त शेष उपनिषदाभासों को भी अल्लोपनिषद् के समान त्याग दें। अस्तु कैवल्योपनिषद् तो आप के १०८ के अन्तर्गत है इस लिये उसका प्रमाण देकर जो स्वामी जी ने सिद्ध किया कि ये सब नाम परमात्मा के हैं। इस के मानने में आप को कोई बाधा नहीं होसकती। हां, यह दूसरी बात है कि अब की बार आप कैवल्योपनिषद् को भी अप्रमाण कहदें। सत्यार्थप्रकाश में जो स्वामी जी ने अल्लोपनिषद् छापा है सो प्रमाण देने को नहीं किन्तु मिथ्या उपनिषदों में से एक नमूना (निदर्शन) दिया है कि इस प्रकार की कल्पना लोगों ने करके उपनिषद् नाम धर दिये हैं॥

ध० दि० पृष्ठ ७ पं० ८ इन्द्रं मित्रं० किस वेद का मन्त्र कहां स्वामीजी ने लिखा है? और क्या इस एक मन्त्र में स्वामीजी लिखित १०० नाम आगये यदि नहीं आये तो शेष नाम अशुद्ध हैं। इत्यादि॥

उत्तर—इन्द्रं मित्रं० मन्त्र स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४ में लिखा है और यह ऋग्वेद मं० १ सू० १६४ का ४६ वां मन्त्र है। आश्चर्य की बात है कि जिन लोगों ने सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ ही में छपा यह मन्त्र तक नहीं देखा वे लोग भी सत्यार्थप्रकाश के खण्डन का उद्योग करते हैं? और १०० नाम इस मन्त्र में नहीं आये तो उनका आना आवश्यक भी क्या था, केवल निदर्शन (नमूना) दिखाना कि इन्द्रादि नाम इस प्रकार के प्रमाणों से परमात्मा के हैं, और शन्नो मित्रः० इस मन्त्र में आये हुए मित्रादि नामों से परमात्मा का ग्रहण करने में प्रमाण देने की आवश्यकता थी, सो इस मन्त्र में इन्द्र मित्र

आदि नाम आगये । १०० नामों में से शेष नामों की व्याख्या स्वामी जी ने इसलिये करदी है कि स्तुति प्रार्थना उपासना के प्रकरण में वेदों में इस प्रकार के नाम आवें तो इस प्रकार से उन के धातुज यौगिक अर्थलेने चाहियें। न कि रूढी । इस लिये व्याकरण से सिद्ध किये १०० नामों के ईश्वरार्थमें कोई दोष नहीं आता ॥

धर्मदि० पृष्ठ ७ पं० ११-और वेद के अनुकूल चाहें जहां का प्रमाण दे सकते हो तौ दयानन्द जी ने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ तथा मन्त्र पुराण उप पुराणादि को मिथ्या कहाहै । और शास्त्र और दश उपनिषदों में भी पृष्ठ ७१ में वेदविरुद्धता स्वीकार की है जब कि कोई पुरुष त्याज्यकह कर फिर उसी वस्तु को स्वीकार करे उस का लेख प्रमाद और घृणायुक्त क्यों न समझा जावे जब आप वेदानुकूल ही मानते हो तो प्रथम ये बातें वेद में ही दिखाइये । जब वेद में दिखा दो तौ उन ग्रन्थों का प्रमाण दीजिये यदि कुछ शक्तिविद्या की हो तौ सम्पूर्ण अपनी बातो मन्त्र भाग से साबित करो ।

उत्तर-वेद के अनुकूल चाहे जहां का प्रमाण निःसन्देह दे सक्ते हैंऔर आप को मानना पड़ेगा । स्वामीजी ने जो ग्रन्थों वा उन के किन्हीं अंशों को त्याज्य लिखा है सो वेदविरुद्धांश का त्याग लिखा है न कि सब का । यह भी नहीं है कि स्वामी जी का यह लिखना कोई नई बात हो किन्तु जैमिनि ने भी मीमांसा में लिखा है कि:-

विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यादसति ह्यनुमानम्मी० अ०१पा०३सूत्र३॥

अर्थात् विरोध करने वाले वाक्य त्याज्य हैं और विरोध न होने ही से अनुकूल का अनुमान करना चाहिये । हम इस सूत्र को भास्करप्रकाश के पृष्ठ ५८ में अर्थसहित लिख भी चुके हैं तथापि आप ने उस पर ध्यान नहीं दिया न जाने भूलकर अथवा ईश्वर जाने, जान बूझ कर छोड़ दिया । जब कि अन्य ग्रन्थों को सर्वांश त्याज्य नहीं कहा किन्तु वेदविरुद्धांश मात्रत्याज्य कहा है तो आप का यह लिखना ठीक नहीं कि त्याज्य कह कर स्वीकार किया । और अपनी बात्तों वेद में दिखाने को जो कहते हो सो प्रथम तौ यह बताइये कि क्या सन्ध्या आचमन अग्निहोत्र आदि आर्यसमाजियों की बात्तों हैं सनातनियों की नहीं ? यदि हैं तो "अपनी" क्यों लिखा है । तथा जब सन्ध्या आदि का वेद में विरोध नहीं तौ वेदानुकूल स्वयं हुवे । यदि विरोध है तौ जैसे हम मूर्तिपूजा के विरुद्ध वेदमन्त्र देते हैं कि:-

न तस्य प्रतिमा अस्ति० । यजु: ३२ । ३

इसी प्रकार आप को भी सन्ध्या आचमनादि से विरोध है तो वेद में इस का निषेध दिखाइये । आज कल पण्डितों ने अब तक सन्ध्या आदि को वेदविरुद्ध सिद्ध भी नहीं किया है । इस लिये यह कीर्त्ति आप को शोभा भी देगी ॥

धर्मदि० पृष्ठ ७ पं० २३ में–यदि वेदानुकूल ही प्रमाण है तो इस अंशाध्य के ग्रन्थ इञ्जील कुरानादि ने क्या बिगाड़ा है । सत्य तो यह है कि आप के मतलब का नाम वेदानुकूल है ॥

उत्तर–आप नहीं जानते कि इञ्जील कुरानादि ने क्या बिगाड़ा है? क्या इञ्जीलके उपदेष्टा वेदकी निन्दा करते,वेदानुयायियों की भोली सन्तानों को वेद का धर्म छुड़ाकर ईसाई बनाते और वेद का शत्रु बनाते आप ने नहीं देखा । और क्या कुरानके अनुयायियों द्वारा वेदानुयायियोंके धर्मधन मान प्रतिष्ठा और परलोक तथा इस लोक को बिगाड़ कर साधारण और बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया । यह भी आप नहीं जानते । सच है, "ऐसी बहू मत देय विधाता । घरकों से वैर पड़ोसी से नाता "॥ हमारे मतलब का नाम वेदानुकूल है नहीं किन्तु जो वेदानुकूल है वही हमारा मतलब है॥

धर्मदि० पृष्ठ ७ पं० २५–और जब अपना मत स्थापित करते हो तब अपने घर के प्रमाण दीजिये दूसरों के स्थान की वस्तु मत छुवो । इत्यादि॥

उत्तर–

परमतमऽप्रतिषिद्धं स्वमतम् ॥

जितना पराया मत अपना निषिद्ध न हो उतना स्वमत ही है । जिस प्रकार सच बोलना सब मतों का अपने से निषिद्ध नहीं है तो स्वमत हुवा । बस ऐसी बात के सिद्ध करने के लिये जो पराये मत में मानी गई हो और अपने मत में उस का निषेध न हो, वह अपना ही मत समझना चाहिये। इस के अनुसार जिन बातों को हिन्दू लोग मानते हैं उन के लिये उन के माने ग्रन्थों का प्रमाण देकर भी सिद्ध करना अनुचित नहीं । वेदानुकूल का अर्थ साक्षात् ही वेद में वर्णित हो, यह नहीं है किन्तु वेद के विरुद्ध न हो वह वेदानुकूल समझा जायगा । जिस प्रकार राजा के अनुकूल ही समझा जाता है और समझा जाना चाहिये । इस विषय में जैमिनि का मत हम ऊपर दिखा चुके हैं ॥

धर्मदि० पृष्ठ ८ पं० ४—ब्रह्मारूप होकर जगत् को बनाता है इस में आप को सन्देह है-तो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १६ पं० ९ बृहस्पति को बड़ोंसे बड़ा और आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी लिखा है। इस में आकाश और ब्रह्माण्ड कहां से घुस पड़ा॥

उत्तर—बृहस्पति शब्द का समास "बृहतां पतिर्बृहस्पतिः" है। जिसका अक्षरार्थ यह हुआ कि "बड़ों का पति स्वामी" ब्रह्माण्ड और आकाश बहुत बड़े हैं परमात्मा इन से बड़ा और इन का स्वामी भी है इस लिये आकाश और ब्रह्माण्ड घुस पड़ा। आप को यह सिद्ध करना था कि "ब्रह्मारूप होकर" यह किस अक्षर पद वाक्य का अर्थ वा ध्वनि है, सो न करके केवल बृहस्पति शब्द के स्वामी जी कृत अर्थ में वृथा दोषारोपण से काम नहीं चलेगा॥

धर्मदि० पृष्ठ ८ पं० १२—

इन्द्रोमायाभिःपुरुरूपईयते। इत्यादि॥

इन प्रमाणों से रूप होना सिद्ध है। इन को जो ईश्वर का विग्रह है पूर्वज विद्वान् बताना आप के संन्यासी जी की मोटी बुद्धि का फल है॥

उत्तर—क्या मन्त्र में "रूप" शब्द आने से ही ईश्वर का रूप सिद्ध हो गया। ऐसा है तो—

अशब्दमस्पर्शमऽरूपमव्ययम्॥

इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में आये "अरूप" पद का क्या अर्थ कीजियेगा। क्या रूप पद के आते ही विग्रह (देह) सिद्ध हो जाता है? क्या जब यह कहा जाता है कि "वचन रूपी बाण मत मारो" तो वचन (शब्द) का कोई रूप=विग्रह वा देह हो जाता है? नहीं, किन्तु यहां रूप शब्द, स्वरूप वा सत्तामात्र वालों का वाचक है। जैसे "सच्चिदानन्दस्वरूप" में स्वरूप शब्द सत्ता का बोध कराता है। यदि आप रूप शब्द से काय=देह लेंगे तो—

सपर्यगाच्छुक्रमऽकायमऽव्रण०॥

इत्यादि वेदवाक्यों में आये "अकाय" पद का क्या निर्वाह करियेगा? ब्रह्मा विष्णु शिव आदि देहधारियोंको "पूर्वज विद्वान्" कहना क्या अनुचित है? उनको "अवरज अविद्वान्" तो नहीं कहा। स्वामी जी की बुद्धि को "मोटी" बताना आप की "पतली" बुद्धि का फल है॥

धर्मदि० पृ० ८ पं० १६ भङ्ग पीना तो शिवजी की उपासना का फल है

परन्तु मुरादाबाद में जब पेचवान के साथ आये थे तब हुक्का पीना कदाचित् आप से स्वामियों की सङ्गति का फल होगा ॥

उत्तर—प्रथम तौ हुक्के पर आक्षेप करने और सत्यार्थप्रकाश के खण्डन से कुछ सम्बन्ध नहीं। फिर स्वामी जी का पेचवान हुक्का पीना भङ्ग आदि मादकों के समान दूषित नहीं और वे हुक्का व्यसन की रीति से पीते थे, इस में कोई प्रमाण नहीं, हम स्वामियों में हुक्का पीने का बाप दादों से रिवाज नहीं और आप भी गौड़ हैं तौ कलियुगी जातिधर्म के अनुसार हुक्के ही से जाति है तौ आप के आक्षेप को अवकाश नहीं ॥

धर्मदिवाकर पृष्ठ ८ पं० ११–१२ वर्ष तक भङ्ग स्वामी जी ने घोटी होगी और फोक सही रहा तभी तौ आज तक बदल करते २ भी सत्यार्थप्रकाश अशुद्धियों से पूर्ण रहा ॥

उत्तर—क्या किसी पुस्तक के अशुद्ध छपने से ग्रन्थकार का भङ्ग पीना साबित हो जाता है? ऐसा है तौ, भङ्ग को भंग, जगत को जगत, बृहत् को बृहत, बृहस्पति को बुहस्पति, बभूव को बभूव, विद्वान् को विद्वान्, संन्यासी को सन्यासी, जङ्गल को जंगल, इत्यादि प्रतिपृष्ठ और प्रतिपंक्ति शतशः अशुद्धि धर्मदिवाकर में छपी हैं, क्या आप ने भङ्ग ही पीकर छपाया है? हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे वा स्वामी जी के बनाये छपाये पुस्तकों में अशुद्धि न रहें वा न छपें वा स्वामीजी और हम सर्वज्ञ हैं किन्तु " छाज बोले तौ बोले चलनी भी बोलती है, जिसमें ७२ छेद " इस कहावत के अनुसार आप के छोटे से पुस्तक में सहस्रशः अशुद्धि रहते हुवे भी स्वामी जी कृत सत्यार्थप्रकाशादि की अशुद्धियों का उलाहना देना ठीक नहीं, पुस्तकों में अशुद्धियां रह ही जाती हैं ॥

धर्मदि० पृ० ८ पं० २८ पं० जी ने देव शब्द का अर्थ मिथ्या और अशुद्ध बताया है तथा नारायण शब्द का अर्थ मनु से विरुद्ध बताया है ॥

उत्तर—देव शब्द के १० अर्थों में केवल एक अर्थ में दूषण दिया है कि (मद) का अर्थ–मदोन्मत्तों का ताडन करने वाला, नहीं होता। सो क्या महादेव के तुल्य नशा करने वाला अर्थ है? नहीं, मदी हर्षे धातु का मद शब्द बना है और अन्तर्भूत णिजर्थ मान कर हर्ष करने वाला अर्थ हुआ। मदोन्मत्त लोग मद में शरीरस्थ यथार्थ हर्ष को नष्ट करते हैं परमात्मा उन्हें ताडन करके हर्ष का यथार्थ सुख देता है। इस लिये स्वामी जी का लिखा

अर्थ बन सकता है। आपोनारा० इत्यादि श्लोक से नारायण शब्द के अर्थ में यह लिख देने से कि "अशुद्ध है"। अशुद्ध नहीं होसकता। किन्तु क्या अशुद्ध है यह तो न पं० ज्वालाप्रसाद ने लिखा, न आप लिखते हैं। केवल अकारण अशुद्ध बताना सहज बात समझ लिया है॥

मङ्गलाचरण

धर्मदि० पृ० १० पं० १ सत्यार्थप्रकाश में अनेक दुर्वाक्य और असत्य कपोल कल्पित वेदमन्त्र बना कर लिखना अमङ्गलरूप क्यों न समझा जायगा।

ततो मनुष्याअजायन्त, और–मनुष्या ऋषयश्च ये

क्या यह दो वाक्य इसी प्रकार कहीं आप यजुर्वेद में दिखला सकते हैं? एक नुकते से जाल होकर मनुष्य दण्ड योग्य और अविश्वासी गिना जाता है सत्यार्थप्रकाश में सैंकड़ों असत्य कल्पित लेख हैं, इसकारण अमङ्गलरूप ही है॥

उत्तर- अन्य ग्रन्थही का उत्तर होता न? जहां २ आप जोर कपोलकल्पितता बतलायंगे वहां २ उस २ का उत्तर दिया ही जायगा। हां, जो उदाहरण के लिये आप ने दो वेदवाक्य लिखे हैं, उन वाक्यों का समाधान सुनिये—

जाल बनाना उसे कहते हैं जिस में अपने प्रयोजन को सिद्ध करने और दूसरे को हानि पहुंचाने के अभिप्राय से किसी प्रकार के बनावटी प्रमाण को प्रमाण की रीति पर दिखलाया जावे, जिस प्रमाण को कि प्रमाण देने वाला जानता हो कि यह प्रमाण यथार्थ में मेरा पक्षपोषक नहीं परन्तु मैं इस प्रमाण को झूंट मूंठ बना कर दिखा दूंगा तो मेरा प्रयोजन सिद्ध होजायगा और दूसरे की हानि भी चाहे हो। परन्तु स्वामी जी के लिखे उन वाक्यों से जिन को उन्हों ने वेदवाक्य करके लिखा है, क्या यह सिद्ध होता है कि उन्हों ने अपने प्रयोजन सिद्ध करने को कल्पित मन्त्र घड़ लिये? विचारना चाहिये कि वहां प्रकरण क्या है। सत्यार्थप्रकाश में वहां यह प्रश्न है कि- (प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या? इस प्रश्न के उत्तर में यह सिद्ध करने को कि एक मनुष्य नहीं, किन्तु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुवे, स्वामीजी ने उक्त दो वाक्य लिखे हैं। वक्ता का तात्पर्य समझने के लिये वाक्य के सम्पूर्ण अवयवों पर ध्यान देना चाहिये। इस प्रश्न को उठा कर उत्तर देने में स्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सृष्टि का बीज एक २ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नहीं, किन्तु मनुष्यादि अनेकों से

सृष्टि आरम्भ हुई। केवल मनुष्य शब्द लिखने का कारण यह है कि सृष्टि में मनुष्य प्रधान है, प्रधान के उपलक्षण से अप्रधान पशु पक्षी कीट पतङ्गादि का भी ग्रहण होता है। जैसे किसी को दधि की रक्षार्थ किसी से कहना हो तो वह कहता है कि "देखो दही रखा है कव्वा न खाजावे, देखते रहना" तो वक्ता का तात्पर्य दही की रक्षा में है न कि केवल कव्वे (काक) मात्र से, किन्तु कव्वा कुत्ता आदि सभी से दही की रक्षार्थ कहने में तात्पर्य है। परन्तु काक का दही खा जाने को आजाना अधिक सम्भव मानकर वह केवल काक का ही नाम लेता है। तथापि रखवारे को चाहिये कि कव्वे के अतिरिक्त कुत्ते आदि से भी दही को बचावे। इसी प्रकार स्वामी जी का मुख्य तात्पर्य एक वा अनेक में है, न कि केवल मनुष्य में। अब सोचना चाहिये कि उन के इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद से क्या मिलता है कि सृष्टि का आरम्भ एक २ प्राणी से हुआ वा अनेक २ से ?॥

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में यह ८ वां मन्त्र है कि :—

तस्मादश्वा अजायन्त येके चोभयादतः। गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ यजुः॥ ३१। ८॥

इस का अर्थ यह है कि उस पुरुष परमात्मा से घोड़े, नीचे ऊपर दान्त वाले, गौ आदि और एकदान्त वाले और बकरे भेड़ आदि सब उत्पन्न हुवे॥

यहां अश्वाः, उभयादतः, गावः, जाताः, अजावयः, इतने बहुवचन आये हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणी की जाति में अनेक व्यक्तियां सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुईं। फिर इस से अगले मन्त्र में:—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ यजुः ३१। ९॥

इस का अर्थ यह है कि देव, साध्य और ऋषिलोग उत्पन्न हुवे उन्होंने उस अपने पूर्ववर्त्तमान, पूजनीय, [पुरुष–परमात्मा] को हृदय रूप कुशासन पर स्थित पाया और पूजित किया॥

यहां भी साध्याः, देवाः और ऋषयः इन बहुवचनों से प्रतीत होता है कि साध्य और ऋषिसंज्ञक बहुत से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुवे॥

बस इससे प्रमाणित है कि जिस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने दो वाक्यों से सिद्ध किया है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यादि प्राणियों की अनेक २

व्यक्तियां उत्पन्न हुईं न कि एक। सो इन मन्त्रों से ठीक पाया ही जाता है। इस लिये स्वामी जी ने अपने पक्ष सिद्ध करने के लिये असत्य कल्पित नहीं किया। और जो कुछ लिखा है वैसा भाव ऊपर लिखे दो वेदमन्त्रों में उपस्थित है। केवल यह भेद है कि :—

"तस्मादश्वा अजायन्त,, के स्थान में–

"ततो मनुष्या अजायन्त,, है। और

"साध्या ऋषयश्च ये,, के स्थान में–

"मनुष्या ऋषयश्च ये,,

इतना पाठभेद है। परन्तु दोनों मन्त्रों में वह भाव उपस्थित है जो स्वामीजी ने लिखा है। तथा यह भी सम्भव है कि बोलने वा लिखने में यह भेद पड़गया हो अथवा किन्हीं लिखी हुई पुस्तकों में जिन पर स्वामीजी ने पढ़ा हो, ऐसा भिन्न पाठ हो॥ परन्तु यह किसी प्रकार नहीं सिद्ध होता कि स्वामी जी ने स्वप्रयोजनार्थ कल्पना करली॥

घ० दि० "हिरण्याक्ष पृथिवी का बोरिया बना कर लेगया,, इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। क्या कहीं यह ऐसी कथा आप भागवत में दिखा सकते हैं। इत्यादि॥

उत्तर–आप जो बार २ इस बात का ज़ोर देते हैं कि क्या आप ऐसा ही पाठ भागवत वा यजुर्वेद में दिखा सक्ते हैं। हम आप ही से पूछते हैं कि क्या आप 'हिरण्याक्ष पृथिवी का बोरिया बना कर ले गया,, यह पाठ इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश में दिखा सक्ते हैं? सत्यार्थप्रकाश में ऐसा पाठ कहीं नहीं। तब आप यह उत्तर देंगे कि ऐसा पाठ नहीं परन्तु यह तात्पर्य तो है। तो हमारा भी यही उत्तर जानिये कि भागवत में हिरण्याक्ष की लेजाई हुई पृथिवी को वाराहावतार द्वारा उद्धार करना और हिरण्याक्ष का वाराह द्वारा मारा जाना आदि असम्भव कथा तो भागवत में हैं ही, स्वामी जी क्या भागवत का शब्दानुवाद करते हैं? किन्तु आशय ही लिखते हैं। इस लिये सत्यार्थप्रकाश में प्रकाशित भागवत की समस्त पोल का समाधान जब तक आप न करें तब तक इन बातों से काम नहीं चल सक्ता॥

आगे घ० दि० पृ० १० पं० १७ से पृ० ११ पं० ६ तक कृष्ण और हरि शब्दों को ईश्वरवाचक सिद्ध करने के लिये ज़ोर लगाया है॥

उत्तर—'शब्दस्तोममहानिधि' कोई आर्षग्रन्थ नहीं, उससे सिद्ध करना, स्वामी जी के प्रति कुछ काम नहीं देसक्ता। 'कृषिर्भूवाचकः०' इस कारिकाको हमने पूछा था कि किस ग्रन्थ की है? आप इसको महाभारत उद्योगपर्व ७०।५ के पते पर लिखते हैं। हम ने कलकत्ते के प्रतापचन्द्र राय मुद्रापित महाभारत के पुस्तक को देखा तो उसमें ७० वें अध्याय में वहां केवल ७ श्लोक हैं उन के आप की कारिका का पता भी नहीं प्रत्युत "कृष्ण" शब्द भी नहीं। यदि पुराणों में और विशेष कर महाभारत में २४००० के १००००० से ऊपर बढ़न्त के कारण किसी महाभारत में यह पाठ निकल भी आवे तो महाभारत इतिहास का पुस्तक है; व्याकरण वा कोष वा निरुक्त का नहीं, जिस का प्रमाण इस विषय में ठीक हो। यथा उस में आदि पर्व में लिखाहै कि—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

फिर २४००० के एक लक्ष से ऊपर बनते और मुम्बई के छपे से कलकत्ते के छप हुवे में भी सहस्रावधि श्लोकों का अन्तर होते हुवे ऐसे विवादास्पद विषय में उसका प्रमाण ही क्या। आप जो "कृषेर्वर्णे" उणा० तृतीय० पा० के कृष्ण शब्द बनाते हैं सो तो हमारा पक्षपोषक है कि 'कृष्ण' काले वर्ण अर्थात् रङ्ग को कहते हैं॥

और आप जो "रमु क्रीडायाम्"। से राम शब्द बनाते हैं सो शब्द तो प्रायः सभी किसी न किसी धातु से बन जाया करते हैं परन्तु राम कृष्ण के अवतार और ईश्वर होने से जो प्रमाण आप देंगे उसकी समालोचना हमारा कर्त्तव्य होगा। कृपा करके यह भी लिखिये कि "कृषिर्भूवाचकः" के तुल्य "इहोपहूत गेहेषु" यह श्लोक भी किसी आर्ष ग्रन्थ का है? वा "अटकलपच्चू प्रमाणम्" ही है॥

अब यह प्रमाण सुनिये, जिस से कृष्णावतार सिद्ध करने का उद्योग किया है। धर्म दि० पृ० ११ पं० ७—

यः कृष्णः केश्यसुरः स्तम्बज उत तुण्डिकः। अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽपहन्मसि॥ अथर्व कां० ८ अनु० ३ सू० ६ मं० ५

(यः कृष्णः) जो कृष्ण (केश्यसुरः) केशीअसुरः केशी असुर को तथा (स्तम्बजः) स्तम्ब से उत्पन्न दावानल को (उत) और (तुण्डिकः) बकासुर को तथा (अरायानस्या मुष्काभ्याम्) शकट के दोनों ओर के भागों का (भंससः)

विदीर्य करके (अपहन्मसि) नाश करते हुये ॥ (द० दि० में अथर्व सं० कां० ८ प्र० १९ अ० १ मं० ५ ऐसा पता है सो चिन्त्य है)

उत्तर—इस मन्त्र के अर्थ में केशी, असुरः, स्तम्बजः, तुण्डिकः, इन चार पदों का तौ आप ने प्रथमाविभक्ति में द्वितीया का अर्थ उलटा कर लिया। 'तुण्डिक' शब्द का अर्थ 'बकासुर, करने में कोई प्रमाण नहीं, अमरकोश में तुण्ड=मुख और तुण्डी महादेव के नन्दी का नाम है। तथा अन्य किसी कोषादि से भी बक का अर्थ नहीं निकलता। "आरायानस्या मुष्काभ्याम्" इस के अर्थ में इतने दोष हैं—पदपाठ के विरुद्ध अरायान्, असयाः, मुष्काभ्याम्, इन ३ पदों के दो पद करना। "स्यानस्याः" के स्थान में "स्यानस्य" मानना। मुष्क शब्द का अर्थ शकट (गाड़ी) के दोनों भाग, कहीं किसी ने नहीं माने, सो मन माना अर्थ का अनर्थ करना। अमरकोषादि में मुष्क नाम अण्डकोष का है। "भंससः" का अर्थ विदीर्ण करके, कैसे होगया, अन्धाधुन्ध वा इसमें कहीं क्त्वा वा ल्यप् प्रत्यय का चिह्न भी है? "अपहन्मसि" यह उत्तमपुरुषका बहुवचन है। इस का आपने प्रथम पुरुष और एकवचन का अर्थ किया तथा वर्त्तमानकाल के स्थान में भूतकाल का अर्थ किया। यदि कहो कि वेद में व्यत्यय होता है तौ व्यत्यय मानकर जिस पदका अन्वय न होसक्ता हो तौ उसका अन्वय ठीक करते हैं वा मन्त्र के समस्त पदों में व्यत्यय ही व्यत्यय कर डालते हैं। यदि ऐसा हो तौ वेदों का जो चाहे सो अर्थ कर दिया जावे। फिर अथर्ववेद के मन्त्र ढूंढने की ही क्या आवश्यकता थी। "गणानां त्वा०" का ही व्यत्यय मान कर कृष्णावतार रामावतारादि क्यों न सिद्ध कर दिया। आप ने समझ लिया कि अक्षरार्थ समझने वाला जो सनातनधर्म सभा में होगा वह तौ हमको अपने पक्ष का जान के बोलेगा नहीं, निरक्षर श्रद्धालु हैं ही हैं। अच्छा व्यत्यय किया। प्रथमा का द्वितीया, तीन पद के दो पद, द्वितीयान्त का प्रथमान्त, उत्तम पुरुष का प्रथम पुरुष, बहुवचन का एकवचन और जिन पदोंका जो अर्थ किसी कोषादि में नहीं, वह निराला अर्थ धन्य !!

हम ठीक अर्थ करेंगे उस पर तौ आप को कदाचित् श्रद्धा न हो। इसलिये आप के माननीय सायणाचार्य का भाष्य और उसका भाषार्थ ही नीचे लिखते हैं, जिस से आप को और आप के अनुयायियों को विदित हो जावे कि वेद की ओर झांकना किसे कहते हैं। इस आठवें काण्ड के अनुवाक १ सूक्त में मुण्डन संस्कार के मन्त्र हैं इससे भी संस्कार प्रकरण ठीक जान पड़ता है

सूक्तारम्भे सायणाचार्यः-सीमन्तोन्नयनकर्मणि अनेन अर्धसूक्तेन श्वेतपीतसर्षपान्संपात्याऽभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात् ॥ अथ सायणकृतोमन्त्रार्थः-

यः प्रसिद्धः कृष्णःकृष्णवर्णः केशी केशवान् प्रकृष्टकेशः एतन्नामा असुरः तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः । उत अपि च तुण्डिकः तुण्डं मुखं, कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः । एते सर्वे अराया दुर्भगास्तान् अरायान् अस्यागर्भिण्याः मुष्काभ्याम्। स्त्रीणामपि मुष्कमस्ति',व्यक्तंपुंसो न तु स्त्रियाः" इति स्मरणात् । मुष्काख्यप्रदेशाभ्यां तत्राऽपि भंससः कटिसन्धिप्रदेशात् अपहन्मसि अपहन्मः॥

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस के आरम्भ में सूत्रकार के वाक्य से सायणाचार्य कहते हैं कि " सीमन्तोन्नयन संस्कार में इस अर्धसूक्त से श्वेत और पीली सरसों (सर्षप) मिला कर मन्त्र पढ़ कर गर्भवती के बान्ध देवे । "

और मन्त्र का भाष्य इस प्रकार सायणाचार्य ने किया है कि:-

" जो प्रसिद्ध काले रङ्ग वाला, बालों वाला, प्रकृष्टकेश नामक असुर है। तथा स्तम्ब में उत्पन्न हुवा असुर है और जो निन्दितमुख वाला तुण्डिक नामक असुर है। ये सब दुर्भग (बदबख़्त) हैं। इन दुर्भगों को इस गर्भवती के मुष्कों से और उस में भी कटि भाग की सन्धि की जगह से भगाते हैं (हम) ॥ स्त्रियों के भी मुष्क होते हैं क्योंकि " पुरुष के प्रकट और स्त्री के प्रकट नहीं " ऐसी स्मृति के प्रमाण से ॥

हमारे ' सनातनी , भाई यदि सायणाचार्य पर भी विश्वास करें और सूत्रकार पर विश्वास करें (जैसा कि करते ही हैं) तो ऊपर लिखे कृष्णावतारसिध्यर्थ अनर्थ से बचकर वेद का अनर्थ करने सुनने सुनाने के अपराध से अधिकांश बच जावें ॥

अब रामावतार की सिद्धि का मन्त्र सुनिये । धर्मदि०पृ०११ पं०-१५ 'भद्रो भद्रया" सामवेद के उत्तरार्चिक दयानन्दतिमिरभास्कर के २६७ पृष्ठ में,, इत्यादि ॥

द० ति० भा० के पृष्ठ २६७ में नहीं किन्तु १६७ में भद्या नहीं किन्तु भद्रया, यह मन्त्र रामावतारसिद्धि में दिया है कि-

भद्रोभद्रयासचमानआगात् स्वसारञ्जारोअभ्येतिपश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

यदा (भद्रः) भजनीयः श्रीरामः (भद्रया) भजनीयया श्रीसीतया (सचमानः) सहितः (आगात्) आगच्छति देहे प्रादुर्भवति तदा (जारः) रावणः (स्वसारं) ऋषीणां रुधिरेणोत्पन्नत्वाद्भगिनीतुल्यां सीतां (अभ्येति) अभिगच्छति (पश्चात्) अन्तकाले (अग्निः) क्रोधेन प्रज्वलितो रावणः (अभितिष्ठन्) युद्धे श्रीरामस्य सन्मुखे तिष्ठन् सन् (सुप्रकेतैः) सुप्रज्ञानैः (उशद्भिः) श्वेतैः (वर्णैः) द्युतिभिः कुम्भकर्णादीनां जीवात्मभिः सह (रामम्) श्रीरामरूपं विष्णुं (अस्थात्) विष्णोःसामीप्यतां प्राप्तवान्॥

भावार्थ–भद्र राम भद्रा सीताजी के साथ प्रगट हुए तब जार रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समान जानकी को हरण किया पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने, सन्मुख होकर कुम्भ कर्ण आदि के जीवात्माओं के साथ श्रीराम की सामीप्यता को पाया॥

उत्तर–धन्य हो! भद्र=राम। भद्रा, स्वसा=सीता। अग्नि=रावण। वर्ण=कुम्भकर्णादि के जीवात्मा ये जो आप ने अर्थ किये, इन में व्याकरण निरुक्त कोष निघण्टु ब्राह्मणग्रन्थादि किसी का भी कुछ प्रमाण है वा आप को आकाशवाणी हुई? कृपा करके संहिता के पुस्तक में देखिये कि इस मन्त्र का "अग्नि" देवता है निरुक्त के मतानुसार–

या तेनोच्यते सा देवता।

जिस का मन्त्र में वर्णन हो वह देवता उस मन्त्र का होता है। तदनुसार अग्नि देवता का वर्णन इस मन्त्र में है। हम जो अर्थ करेंगे सो तो सामवेदभाष्य (हमारे किये) में देखियेगा ही। परन्तु आप सायणाचार्य के भाष्य से ही सन्तोष करिये और जानियेगा कि इसमें राम सीता का वर्णन नहीं है। इस मन्त्र से पूर्वले–

कृष्णां यदेनीमभि–इत्यादि

इस मन्त्र का भी अग्नि देवता है। और इस से अगले–

कया ते अग्ने अङ्गिर–इत्यादि

मन्त्र का भी अग्नि देवता है। फिर बीच में रावण कहां से आय कूद पड़ा?

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३क २र ३ २

भद्रोभद्रयासचमानआगात्स्वसारञ्जारोअभ्येतिपश्चात्।

३ १र २र३ २ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ २

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥ ३। ५॥

सायणाचार्यभाष्यम्–

"भद्रः" भजनीयः कल्याणः "भद्रया" भजनीयया "सचमानः, आगात्" आगच्छति। ततः "पश्चात्" "जारः" जरयिता शत्रूणां "सोऽग्निः" "स्वसारं" स्वयं सारिणीं भगिनीं वा आगतामुषसम् "अभ्येति" अभिगच्छति। तथा "सुप्रकेतैः" सुप्रज्ञानैः "द्युभिः" दीप्तिभिस्तेजोभिः सह "वितिष्ठन्" सर्वतो वर्त्तमानः सोऽग्निः उशद्भिः श्वेतैः "वर्णैः" वारकैरात्मीयैस्तेजोभिः "रामम्" कृष्णं शार्वरं तमः "अभ्यस्थात्" सायंहोमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ ३। ५॥

सायणकृत भाष्य का भावार्थ–भजनीय भजनीया के सहित आता है। (किन्तु) शत्रुओं का नाशक वह अग्नि, स्वयं चलने वाली वा भगिनी आई हुई उषा के सामने आता है। तथा भले प्रकार प्रज्ञान तेजों के साथ सब ओर वर्त्तमान वह अग्नि, श्वेतवर्ण रोकने वाले अपने तेजों से "रामम्" काले रात्रि के अन्धियारे को सायं होमकाल में तिरस्कार करके स्थित होता है॥

आप तो 'राम' का अर्थ दाशरथि कहते हैं और सायणाचार्य 'राम' का अर्थ "काला अन्धियारा" करते हैं, कहिये आप का अर्थ मानें वा आप के माननीय सायणाचार्य का? आप ने तो "व्यत्यय" और "बहुल" के सहारे वेद का अर्थ करना हंसी ठट्ठा समझ लिया है। हम यह नहीं कहते कि सायणाचार्य का भाष्य सन्देहरहित है परन्तु हां, आप के पक्ष के आचार्य का भाष्य भी आप के अर्थ का पोषक नहीं इस लिये हम ने यह भाष्य उद्धृत किया है॥

अब तीसरे कृष्णावतारसाधक मन्त्र की व्यवस्था सुनिये:—

धर्म० दि० पृ० ११ पं० १८ में द० ति० भास्कर के पृष्ठ १६८ का संकेत किया है कि इस में श्रीकृष्णावतार का वर्णन है सो द० ति० भा० पृ० १६८ में मन्त्र और उस का अर्थ इस प्रकार है:—

कृष्णंतएमरुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकं
यदप्रवीतादधतेहगर्भं सद्यश्चिज्जातोभवसीदुदूतः।
(ऋ० मं० ४ सूक्त ०७ मं० ९ अ०-१)

पद-कृष्णं, ते, एम, रुशतः पुरः भाः चरिष्णु अर्चिः-वपुषाम् इत् एकम् यत् अप्रवीता दधते ह गर्भम् सद्यः चित् जातः भवसि इत् उदूतः॥

अर्थ-कृष्णंतएम इति, हे भूमन् ते तव रुद्र रूपेण पुरस्त्रिस्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरःस्थूलसूक्ष्मकारणदेहान् ग्रस्त स्तुर्यं स्वरूपस्य यत्कृष्णं भाःसत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमित् एकमेव अर्चिर्ज्वाला-वदंशमात्रं समष्टिजीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु च-रिष्णुभोक्तृरूपेण वर्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्र-कर्षेणवीतं गमनं संचारो यस्याःसा अप्रवीता निरुद्धगतिर्नि-गडेग्रस्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकीपुत्रायेति छांदोग्ये देवक्या एवकृष्णमातृत्वदर्शनात् सा गर्भं स्वगर्भं दधते धार-यति दधधारणे इत्यस्य रूपम् ह प्रसिद्धं सः त्वं जातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्यइदुसद्य एव उनिश्चितं दूतःदुनोतितो दूतःमातुः खेदकरोऽतिवियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थः एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितम्॥

भावार्थः—हे भूमन्! आप का जो सत्यानन्दचिन्मात्ररूप है और रुद्र रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होवें, जिस आप के

स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टिजीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृ रूप से वर्त्तमान है, और जो कृष्णभा की अप्रवीता अर्थात् निगड़ग्रस्त देवकी गर्भ रूप से धारण करती भई। छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है, हे भूमन् आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुवे, इस से श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीवको पूर्व निरूपित पद शतवबोधन किया॥

उत्तर—कहिये! ये अनर्थ कहां से उड़ाया है! जिस में, ग्रस्त, जीवं, वर्त्तते, इद, उनिरूपितं, ग्रस्त का अर्थ ग्रसने वाला! धन्य भाष्यकर्त्ता जी! यथार्थ में—इस मन्त्र का भी (देखो संहिता चाहे जहां की छपी वा लिखी) अग्नि ही देवता है। जिस से इस में भी अग्नि का वर्णन होना चाहिये। आपने अपनें अर्थ में इस को सर्वथा उड़ा दिया। इसका भी सायणभाष्य देखिये॥

"हे अग्ने! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमनमार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णं कृष्णवर्णं भवति। भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति। चरिष्णु संचरणशीलम् अर्चिस्त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु। स त्वं सद्यश्चित्सद्य एव जात उत्पन्नः सन् दूतोभवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव"

सायणाचार्यकृत भाष्य का भावार्थ—हे अग्ने! तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्ण वर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुवे यजमान लोग ज्योंही तेरे गर्भ रूप अरणिको धरते हैं त्योंही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है॥

तात्पर्य यह है कि अग्निका मार्ग काला है। जहां होकर आग निकलती है वहां काला पड़ जाता है। आगके साथ २ आगे २ उसका प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का ही प्रकाश तत्स्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्निको यज्ञकर्त्ता यजमान लोग

जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं, तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमानके दिये हुवे हविर्भाग, वायु आदि देवोंको पहुंचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदोंमें बहुधा गाया गयाहै॥

इस अर्थ के अनुसार जिसके मानने से सनातनी लोग इन्कार नहीं करते, क्योंकि हमारा किया अर्थ नहीं है किन्तु सायणाचार्यका किया है। इसमें कहीं देवकी और कृष्ण का पता नहीं चलता॥

धर्म दि० पृ० ११ पं० २३-"वेदानां सामवेदोस्मि"। वेदोंमें सामवेद मेरा रूप है। ऋक्साम वे हरी। श० ४। ४। ३। ६। हरिरसिहरिभ्यान्त्वा यजु० अ० ८ मं० ११ में साम ऋक् रूप भगवान की उपासना है इस से वेद रूप भगवान के हरि रूप होने में क्या सन्देह है॥

उत्तर-इस यजुःकी व्याख्या आपके लिखे ४। ४। ३। ६ में है ही नहीं प्रत्युत आपका लिखा पाठ "ऋक्सामवैहरी" भी उस कण्डिका में नहीं है। पाठकोंके भ्रमनिवारणार्थ आप की पता दी हुई समस्त कण्डिकाको उद्धृत करते हैं और पूछते हैं कि बताइये इस में आपका लिखा पाठ कहां है-

"तदाहुः। कथमेतं गर्भं कुर्य्यादित्यङ्गाद्वैवस्यावद्येयुर्यथैवेतरेषामवदानानामवदानं तदु तथा न कुर्यादुतह्येषोऽविकृताङ्गो भवत्यधस्तादेव ग्रीवा अपि कृत्यैतस्याᳬस्थाल्यामेतं मेधᳬश्चोतयेयुः सर्वेभ्यो अस्यैषोङ्गेभ्यो मेधः श्चोतति तदस्य सर्वेषामेवाङ्गानामवत्तं भवत्यवद्यन्ति वश्यया अवदानानि यथैव तेषामवदानम्" श० कां० ४। प्र ४ ब्रा० ३ कं० ६

यथार्थ में आपने अर्थ तो कुछ किया ही नहीं केवल वाक्य उद्धृत कर दिया है, सो वाक्य भी यजुर्वेद में आप के लिखे समान नहीं किन्तु-

हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यान्त्वा० इत्यादि।

ऐसा पाठ है। और गीता में जहां 'वेदों में सामवेद मैं हूं' कहाहै वहीं अ० १० श्लोक २३ में:-

"वित्तेशो यक्षरक्षसाम्"

यक्ष और राक्षसों में कुबेर मैं हूं। यह कहा है। और वहीं १०। ३६ में-

"द्यूतं छलयतामस्मि"

छलियाओं में मैं द्यूत (जुवा) हूं । फिर भगवान् किसे कहें कुबेर को वा द्यूत को वा उसी अध्याय में लिखे अन्य पदार्थों को । आप इन्हीं प्रमाणों के आधार पर आर्यों से वाद उठाते हैं ॥

धर्मदि० पृ० ११ पं० २७ से "स्वामी जी ने प्राचीन ग्रन्थोंसे ही यह विष्णुसहस्रादि नाम द्वारा ईश्वर के सहस्र नाम क्यों न लेलिये" भलायह वाक्य कहीं द० ति० भा० में दिखा सकते हो। असत्यभाषण तो दयानन्द और उन की लकीर पर फ़क़ीर हुवों की छठी में पुज गया है । इत्यादि ॥

उत्तर- महात्मा जी ! आप तो हमारे पाठ को उद्धृत करते हुवे भी शब्दभेद करने से न बच सके । क्या आप उक्त वाक्य अक्षरशः ठीक ऐसा कहीं "भास्करप्रकाश" में दिखा सकते हैं? कभी नहीं। किन्तु "सहस्रादि नाम" की जगह "सहस्रनामादि" है। अस्तु यह आक्षेप ही क्या है, जब कि तात्पर्य वही है। परन्तु आप जो "ऐसा ही" पर ज़ोर देते हैं इसलिये हमने लिखा दिया कि "ऐसाही" तो आप भास्करप्रकाशमें भी नहीं दिखा सकते। रही यह बात कि द० ति० भा० में यह तर्क नहीं हो, सो नहीं, किन्तु उस के पृष्ठ ७ पं० ३ से—

"जैसे प्राचीन ग्रन्थों में विष्णुसहस्रनाम शिवसहस्रनाम हैं वो ही आशय उभार कर यह आप ने भी शत नाम लिखे हैं भला जी ग्रन्थ की आदि में १०० नाम ईश्वर के लिखना यह कौन से वेदानुकूल है प्रत्यक्ष लिख देते कि विष्णुसहस्रनाम के स्थान में हमारे शिष्य शत नाम का पाठ किया करें"

क्या इस से यह आशय नहीं निकला कि स्वामीजी ने नवीन शतनाम अपने शिष्यों के लिये बनाया और यद्यपि वह विष्णुसहस्रनामादि प्राचीन १००० नाम से लिया और वह प्राचीन ही ज्यों का त्यों क्यों रख लिया ॥

कृपा करके भास्करप्रकाश पृ० ६ पं० ५ को देखिये उसमें स्पष्ट लिखा है कि 'मङ्गलाचरण में द० ति० भा० पृ० ५ से ७ तक इतने तर्क हैं' फिर भास्कर प्र० पृ० ६ और ७ में द० ति० भा० पृ० ५-७ तक का आश्रय लेकर ७ तर्कों के ७ प्रत्युत्तर छपे हैं। इस से स्पष्ट है कि हमने द० ति० भा० के लेख को विस्तृत समझ कर उस में से संक्षिप्त ७ तर्क निकाल कर उन के ७ प्रत्युत्तर दिये हैं। न कि पाठ उद्धृत किया है । यदि यही होता तो आपने शेष ६ तर्कों के पाठ में भी भेद देख कर यही शङ्का क्यों न की । इस लिये निश्चय जानिये कि आप को ही भागवत वाले ने 'स्त्रीषु नर्म विवाहे च वृत्यर्थे प्राणसङ्कटे"

अर्थात् स्त्री, हंसी, विवाह, जीविका और प्राणसंकट में झूंठ बोलना बुरा नहीं। यह शिक्षा दी है। तभी तो जीविकानिमित्तक सनातनधर्माभास की रक्षा के हेतु झूंठ पर कमर बान्धी है ॥

धर्मदि० पृ० १२ पं० २ से- "चोर जारसि* खामणि" पर आप को बड़ा खटका है सुनिये बलपूर्वक दूसरों के मन अपनी ओर आकर्षित करने से और "यमोह जातो यमोजनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् *" इस वेद मन्त्र से वह चोर जार में शिखामणि है। इत्यादि ॥

उत्तर-धन्य हो! परमात्मा को चोरजारशिखामणि कहते लज्जा आनी चाहिये थी परन्तु लज्जा के स्थान में आप ने उसे वेद से सिद्ध करने का साहस किया। क्यों नहो! भलाजी! क्या माखन मिश्री चुराने सेचोर और गोपी क्रोड़ा करने से जार आप नहीं मानते? किन्तु दूसरों के चित्त अपनी ओर करने से जार मानते हैं? अस्तु जार का तो यह ठिकाना लगाया परन्तु आप को यह भी ज्ञात है कि गोपालसंहस्रनाममें जहां "चोरजारशिखामणिः" पाठ है, उस से पूर्व और क्या पाठ है? आओ, हम बतायें कि क्या पाठ है। महाराजन्! इस से पूर्व पाद यह है कि "भगवान् कामिनीजारः" अर्थात् भगवान् स्त्रियों के जार हैं। अब बताइये आप की खेंचातानी कैसे चलेगी? क्यों जी! आप का भगवान् कामिनियों के ही चित्त को बलपूर्वक अपनी ओर खेंचता है, क्या पुरुषों के चित्त को नहीं? ठीक है तभी तो कृष्णभक्ति स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। अब किञ्चित मन्त्र पर ध्यान दीजिये मन्त्र में जार पद को देख कर भगवान् का अर्थ समझ बैठना ऐसा ही है, जैसे कि "ईशावास्यमिदꣳसर्वम्" में ईशा पद को देख कर ईसाई लोग कह उठें कि देखो वेद में हमारे ईसामसीह लिखे हैं। प्यारे भाई! थोड़ा श्रम करके इस मन्त्र के ऋषि देवता और सायणभाष्य ही देख लिये होते तब भी इस असङ्गत अनर्थ से छुटकारा हो सक्ता था ॥

देखिये सायणाचार्य्य क्या लिखते हैं:-

(सूक्तारम्भे) आग्नेयं पराशरस्यार्षम्। सूक्तारम्भ सायणभाष्य में लिखा है कि इस सूक्त भर का अग्नि देवता और पराशर ऋषि है ॥

मूलं, सायणकृतं मन्त्रभाष्यञ्च-

यमो ह जातो यमो जनित्वं

जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥ ऋ० १। ६६। ४ ॥

योजात उत्पन्नोभूतसंघः यच्च जनित्वं जनयितव्यमुत्पत्स्यमानं भूतजातं तदुभयमपि यमोह अग्निरेव । सर्वेषां भावानामाहुतिद्वाराऽग्न्यधीनत्वात् । कनीनां कन्यकानां जारोजरयिता यतोऽग्निर्विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्त्तते अतोजरयितेत्युच्यते । तथा जनीनां जायानां कृतविवाहानां पतिर्भर्त्ता । इत्यादि ॥

अर्थ—जो प्राणिवर्ग उत्पन्न हुआ है और जो होने वाला है वह उभय अग्नि ही है । क्योंकि आहुति द्वारा समस्त पदार्थों के भाव अग्नि के अधीन हैं । कन्याओं का जार—जीर्ण करने वाला है । क्योंकि विवाहसमय में धान की खील आदि द्रव्यों का अग्निमें होम करने पर कन्याभाव निवृत्त होजाता है । इस लिये (अग्नि को) कन्याओं का जरयिता—जार कहा जाता है । तथा विवाहिताओं का पति भर्त्ता भी (अग्नि ही है) इत्यादि ॥

देखिये और विचारिये कि आप का शिरोधार्य सायणभाष्य भी आप के कथनानुकूल इस मन्त्र का अर्थ भगवान् को चोरजारशिखामणि नहीं सिद्ध करता । आप ने स्वयं कुछ मन्त्र का अर्थ लिखा ही नहीं । महात्मा जी ! ज़रा सोच कर मन्त्र का प्रमाण दिया करो । निरा एक बैल का हल मत चला दिया करो ॥

ध० दि० पृ० १४ पं० १० से—तुलसीराम जी ने देवा शब्द का अर्थ दिव्य गुण किया है इस में कोई प्रमाण नहीं इत्यादि ॥

उत्तर—देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानोभवतीति वा ॥निरुक्त ७ । १५ दान दीपन द्योतन इन गुणों से वा द्युलोक में स्थान होने से देव संज्ञा होती है । फिर क्या दान दीपन द्योतनादि दिव्यगुण नहीं हैं ? यदि हैं तो आप को निर्भय होकर ऐसा अनर्गल नहीं लिखना चाहिये ॥

ध० दि० पृ० १४ पं० १२ से—(यइत्तद्विदुस्तइमेसमासते) इस का अर्थ ही छोड़ दिया ॥

उत्तर—आप को यह भी बोध है कि तु० रा० ने वहां मन्त्र के पदों का अर्थ लिखा है वा निरुक्त के ? जब निरुक्त के पदोंका अर्थ है तो जो प्रतीक

"यद्वतद्धि०," निरुक्तकार ने मन्त्रको लिखी है वही हमने लिखी है। उस का अर्थ निरुक्तकार ने नहीं लिखा तब हम क्यों लिखते? क्योंकि हम वहां निरुक्त के पदों का अर्थ करते थे। यह भी कोई लिखने की परिपाटी होगी कि किसी का पदशः अनुवाद करते हुवे अन्यत्र से उद्धृत पद वाक्यका अर्थ भी अवश्य ही किया जावे?

ध० दि० पृ० १४ पं० १३ से–अ० उ० म० इन तीन अक्षरों के स्वामी जी कृत अर्थ सिद्ध करा चाहते थे। इत्यादि॥

उत्तर–इस मन्त्र से अ० उ० म० के स्वामी जी कृत अर्थ ही नहीं किन्तु मित्र, वरुण, बृहस्पति, अर्यमा, विष्णु, इन्द्र, वायु, अग्नि, विराट् आदि जो आप को और पं० ज्वालाप्रसादजी को उपासनाप्रकरण में भी अनेक देवता प्रतीत होते हैं सो ठीक नहीं किन्तु इस मन्त्र और इसके निरुक्तस्थ (नाना-देवतेषु मन्त्रेषु एतद्ध वा) इन पदों से यह सिद्ध होता है कि "नाना देवता वाले मन्त्रों में यही ओङ्कार विवक्षित है" जिस को आप यूं ही बातों में उड़ाया चाहते हैं॥

ध० दि० पृ० १४ पं० २३ से–आगे आपने मिश्र जी कृत ओङ्कार का अर्थ किया है उस में से अग्नि वायु आदित्य लेकर कहा कि यह स्वामी जी के अर्थ से मिलता है, परन्तु वहां पृ० ९ में प्रथम मात्रा में पृथ्वीलोक अग्नि ऋग्वेद और पृथ्वीलोक के निवासी जन स्थित हैं। इत्यादि लिखा है॥

उत्तर–माना कि वहां मिश्रजी ने चाहे जितना अधिक लिख मारा हो परन्तु स्वामी जी लिखित "अग्नि, वायु, आदित्य" भी तो हैं। फिर मिश्र जी का यह कहना तो ठीक नहीं रहा कि अग्नि, वायु, आदित्य ओ३म् के अर्थ स्वामी जी के ठीक नहीं, जब कि मिश्र जी स्वयं वैसा अर्थ करते हैं॥

ध० दि० पृ० १५ पं० २२ से–जागरित स्वप्न सुषुप्ति का नाम विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर, कहां से किस प्रमाणसे लिया। अर्थ तक तो विचारा ही नहीं। इत्यादि॥

उत्तर–हम ने यह देखकर कि माण्डूक्य के वाक्य इतने स्पष्ट हैं कि जिन को सामान्य पुरुष भी समझ सकते हैं, उन के विस्तार से अर्थ करने की आवश्यकता न समझी, तथा उस में स्पष्ट वैश्वानर=अग्नि, तैजस और प्राज्ञ ये तीन पद क्रम से अ० उ० म० के साथ आये हैं। इस लिये निर्विवाद स्वामी जी के लिखे तीन अर्थ तो स्पष्ट हैं। शेष तीन विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर

पद, जागरितस्थान स्वप्नस्थान और सुषुप्तस्थान इन तीन पदों से झलकते हैं परन्तु आप की समझ में यह ब्रह्मविद्या क्यों आने लगी है। आप तो सा-कारोपासक हैं। तथापि इन समझाने की रीति से माण्डूक्योपनिषद् के ४ वाक्यों का स्पष्टार्थ लिखते हैं—

अधिकारी को ब्रह्मतत्त्व समझाने के लिये इस उपनिषद् में जागरित स्वप्न सुषुप्त और तुरीय इन चार अवस्थाओं की कल्पना करके समझाया है और वे अवस्था ओ३म् इस वाचक शब्द से समझायी गई है। यद्यपि केवल ब्रह्म तीनों अवस्था से रहित है परन्तु प्रकृतिसहित ब्रह्म में अवस्थाओं की कल्पना करके समझाते हैं कि जिस प्रकार जीवात्मा जब जागता है तब बाहरी इन्द्रियों का सब व्यवहार होता रहता है। इसी प्रकार—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥९॥माण्डू०

(जागरितस्थानः) जागते जीवात्मा के स्थान में परमात्मा की कल्पना करो कि जब वह विविध जगत् को रचे हुवे बाह्य जगत् में चेष्टा कराता हैं जैसे कि जीवात्मा बाह्य इन्द्रियों में चेष्टा कराता है, तब जो परमात्मा की प्रकृतिसहित अवस्था है वह विराट् है (वैश्वानरः) सब का नर-नायक अर्थात् अपने २ व्यवहार में चलाने वाला। यह (अकारः प्रथमा मात्रा) अ, प्रथम मात्रा है। (आप्तेः) आप्ति से अ, बना होने से (वा) अथवा (आदिमत्वात्) अक्षरों में आदिम अ होने से। (यः, एवं, वेद) जो पुरुष, इस भेद को, जानता है वह (आप्नोति, ह वै, सर्वान्, कामान्) प्राप्त होता है, निश्चय, समस्त कामनाओं को (च) और (आदिः भवति) अग्रगण्य होता है॥ अब तो समझे ! कि जागरितस्थान से "विराट्" इस प्रकार इस प्रमाण से लिया ! ! अब स्वप्न स्थान सुनिये—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ माण्डूक्ये

(स्वप्नस्थानः) जैसे मनुष्य जब सोता है तो स्वप्न में मन आदि भीतरी इन्द्रियों का व्यवहार होता रहता है केवल बाहर सुनसान रहता है वैसे स्वप्न के स्थान में समझो कि जब एक समय वह था कि स्थूल सृष्टि की रचना

नहीं हुई थी और बाह्य विराट् में चेष्टा का प्रादुर्भाव नहीं हुवा था परन्तु परमात्मा ने अपने विचार में जगत् रचना ठान ली थी, उस समय की दशा को लक्ष्य करके परमात्मा स्वप्न-स्थान हिरण्यगर्भ कहाया। क्योंकि जिस प्रकार गर्भ छिपा होता है सब को नहीं दीखता किन्तु वर्त्तमान होता है इसी प्रकार हिरण्य अर्थात् सूर्य्यादि तेज उस समय छिपे हुये परमात्मा के विचार में तो थे परन्तु प्रकट न हुवे थे। (तैजसः) तेजों का धर्त्ता (उकारो द्वितीया मात्रा) उ, दूसरी मात्रा है। (उत्कर्षात्) श्रेष्ठ होने से (वा) अथवा (उभयत्वात्) दोनों [जागरित और सुषुप्ति] के मध्य में होने से (यः,एवं, वेद) जो, इस प्रकार,जानता है (ह वै) वह निश्चय (ज्ञानसन्ततिम्, उत्कर्षति) ज्ञान के फैलाव को बढ़ाता है (अस्य कुले) इसके कुल में (अब्रह्मवित् न भवति) ब्रह्मज्ञानरहित नहीं होता (च) और (समानः भवति) समान मध्यम वा उदासीन वृत्ति वाला होता है। न किसी से मित्रता न वैर करता है ॥

अब तो समझिये कि स्वप्नस्थान से "हिरण्यगर्भ" ऐसे इस प्रमाण से लिया। अब सुषुप्तस्थान सुनिये—

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इद ँ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥११॥ मा०

(सुषुप्तस्थानः) जिस प्रकार मनुष्य गाढनिद्रा के समय मन आदि अन्तःकरण और चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों का कुछ व्यापार नहीं करता, केवल स्वभाव सिद्ध हृदयस्पन्दन और रक्तचालन नाडीगति आदि व्यवहार मात्र होता रहता है और जीवात्मा शरीर का अधिष्ठाता (ईश्वर) मात्र रहता है। इसी-प्रकार परमात्मा ने जगत् रचा भी न था और रचना चाहा भी न था तब प्रलयकाल की दशा में केवल प्रकृति और जीवों का धारणमात्र करता था, इस से वह इस का अधिष्ठाता वा ईश्वर=स्वामी था। वह (प्राज्ञः) चेतनमात्र (मकारस्तृतीया मात्रा) म, तीसरी मात्रा है। (मितेः) मान से, क्योंकि मान इयत्ता वा परिमाण, तद्वस्थ कर सक्ता है। (वा)अथवा (अपीतेः) प्रलय से क्योंकि म् पर अ उ म् की समाप्ति वा लय होता है। (यः एवं वेद) जो ऐसे जानता है वह ज्ञानी (इदम्, सर्वम्) इस, सब को (मिनोति ह वै) निश्चय जानता है। (च) और (अपीतिः भवति) लीन वा मुक्त हो जाता है॥

अब तो समझ लीजिये कि सुषुप्तस्थान से ऐसे इस प्रमाण से "ईश्वर" लिया जाता है। अब वह सुनिये जो कि प्रकृति और जीवों को छोड़ कर केवल ब्रह्म है। वह—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥
माण्डूक्योपनि०

(अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः) बिना मात्रा चौथा [अवसान] किसी शब्द से व्यवहारमें नहीं आसक्ता (प्रपञ्चोपशमः) उस में प्रपञ्च जगत् का उपशम=लय है (शिवः) वह कल्याणमय है (अद्वैतः) वह अद्वितीय है अर्थात् उस के सदृश कोई नहीं। (एवमोङ्कारः) इस प्रकार का ओ३म् है। (य एवं वेद) जो ऐसे जानता है वह (आत्मैव आत्मनात्मानं संविशति) आप ही अपने स्वरूप से परमात्मा को संवेश करता है=ब्रह्म को प्राप्त हो मुक्त होजाता है॥

अर्थात् ओ३म् की अ० उ० म्० ये तीन मात्रा परमात्मा का उतना ज्ञान कराती हैं जितना कि हम उसे जगत् के साथ से जान सक्ते हैं कि जब उस ने प्रकट जगत् रच दिया है उतने से जो जाना जाता है उतना अ का वाच्य है। और जब उस ने जगत् रचना चाहा था उतने से जो जाना जाता है सो उ का वाच्य हुवा। तथा रचने से भी पूर्व कारण का धारणमात्र करने से जो जाना जाता है वह म् का वाच्य है॥

इन तीनों मात्राओं से परमात्मा को हम वहां तक जान सक्ते हैं जहां तक उस का जगत् के साथ रचने चाहने और धारने का सहचार है। परन्तु जगत् अल्प और परमात्मा महान् है इस लिये इन तीनों मात्राओंसे आगे अगम्य दशा है जो किन्हीं शब्दोंसे निर्देश करनेमें नहीं आसक्ती। परन्तु यह निश्चय है कि वह भी कोई तुरीय अवस्था है अवश्य ॥

जिस प्रकार एक घड़ी को देखनेसे घड़ी बनाने वाले के उतने ही गुणों को जान सक्तेहैं जितने कि घड़ीसे पाये जाते हैं परन्तु क्या कोई कह सक्ता है कि घड़ी बनाने वाले में इतने ही गुण हैं जितने घड़ी से समझे जाते हैं? नहीं २। सम्भव है कि घड़ी बनाने वाला इतिहासज्ञ हो, यद्यपि घड़ी को देखनेसे यह नहीं जाना जा सक्ता। सम्भव है कि वह डाक्टर वा वैद्य हो, यद्यपि घड़ीसे डाक्टरी नहीं झलकती। इस प्रकार अन्य अनेक ऐसे गुण घड़ी बनाने वालों में प्रायः होतेहैं जिनका सम्बन्ध घड़ीसे नहीं वा ऐसा छिपा हुवा सम्बन्ध है जिसे कोई नहीं जान सकता॥

इस प्रकार जगत् के सहचार से धारण विचार और रचना आदि गुणों के अतिरिक्त अन्य असंख्य कितने गुण वा सामर्थ्य परमात्मा में हैं उन्हें हम

नहीं जान सके परन्तु इतना जान सके हैं और जानना चाहिये कि जो कुछ उसके विषयमें हमने जानाहै वही समस्तवा सनाप्तिकी जगह नहीं होसक्ता॥

बस यह जानना ही उस ब्रह्म का यथार्थ जानना है। सो इन साकारोपासकों की समझ में आना वास्तव में कठिन है। हमारा प्रयोजन इन के उत्तरदेने मात्रसे ही नहीं, किन्तु इस लेखके चित्त लगाकर पढ़ने वालोंको उपनिषदादिप्रसङ्ग में आये शास्त्रों का तत्त्व समझाना भी प्रयोजन है। इस लिये जो लेख बढ़ गया उसे वृथा न समझें॥

ध० दि० पृ० १७ पं० ३ से (अद्वैतः) द्वैतरहित "न तु तद्द्वितीयमस्ति यतोन्यद्विभक्तं पश्येदिति श्रुतेः" अर्थात् वहां दूसरा है ही नहीं जिस को देखा जाय, कारण कि सब जगत् का प्रपञ्च शान्त है॥

उत्तर—महाशय! प्रथम तौ आपने इति श्रुतेः कर दिया, यह नहीं लिखा कि किस ग्रन्थ की श्रुति है। दूसरे उससे भी आपका प्रयोजन सिद्ध न हुवा। क्योंकि उसका अर्थ यह है कि-(नतु तद्द्वितीयमस्ति) वह ब्रह्म दूसरा नहीं है (यतोन्यद्विभक्तं पश्येत्) जिस से भिन्न अन्य को देखे॥

इस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु है ही नहीं, किन्तु यह सिद्ध होता है कि दूसरा ब्रह्म नहीं है। यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुमात्र का निषेध समझोगे तौ निम्नलिखित वेदमन्त्र से विरोध आवेगा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। ऋ० १।१६४।२०

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर कर्मवाले (सयुजा) साथी (सखाया) परस्पर मित्र हैं (समानम्) अनादित्व में समान (वृक्षम्) छिन्न भिन्न होने वाले प्रकृतिरूप वृक्ष को (परिषस्वजाते) लिपटे हैं (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक तौ (पिप्पलम्) फल को (स्वादु अत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है (अन्यः) दूसरा [परमेश्वर] (अनश्नन्) न भोगता हुवा (अभिचाकशीति) साक्षी मात्र है॥

इस में स्पष्ट जीवात्मा परमात्मा और अव्यक्त प्रकृति का वर्णनहै। इस लिये अद्वैत और द्वैत दोनों वाद ठीक नहीं किन्तु त्रैतवादवेद का सिद्धान्तहै॥

यह ओंकारादि और अन्य ईश्वर के नाम विषय में सत्यार्थप्रकाश और भास्करप्रकाश का मण्डन तथा द० तिमिरभास्कर और धर्मदिवाकर का खण्डन रूप प्रथम समुल्लास पूर्ण हुआ॥१॥

अथ द्वितीयसमुल्लासः

द० तिमिरभास्कर पृ० १३ में सत्यार्थप्र० पृ० २८ के लेख पर शङ्का थी कि गर्भाधान से उपदेश किस प्रकार सम्भव है। उस का समाधान भास्करप्रकाश पृ० ११ में हम ने लिखा था कि—

आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

आहार से सत्त्व और सत्त्व से स्मृति की शुद्धि और स्थिरता होती है तथा-

अङ्गादङ्गात्संस्रवसि हृदयादधिजायसे

जब कि माता के प्रत्येक अङ्ग और हृदय से पुत्र की उत्पत्ति है तब माता के शुद्ध हृदय का प्रभाव पुत्र पर कुछ न कुछ अवश्य पड़ेगा। इस पर ध० दि० पृ० १८ में लिखा है कि—

प्रत्युत्तर—बात कुछ जवाब कुछ। बात उपदेश करने की है, उत्तर देते हैं भोजन से सत्त्वशुद्धि का। यह तो आप मानते ही नहीं, आप के यहां तो शूद्र के हाथ की रसोई खाना लिखा है, शुद्धि का कुछ विचार नहीं, ब्राह्मण का पुत्र शूद्र का पुत्र बनाना लिखा है, यहां माता के अंग २ से टपकता लिखते हो, अब यह सत्य या वर्णसंकरता का कारण यह वर्णव्यवस्था। यह भी विदित है कि उपदेश करने का नाम भोजन करना नहीं है और गर्भाधान होते ही तो जीव का प्रादुर्भाव ही नहीं फिर उपदेश कैसा, इस से आप का इस विषय में कथन जल्पना मात्र है। शील के लक्षण इस प्रकार हैं॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते। तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि॥ महाभा० शा०॥

मन वचन कर्म से किसी से वैर न करना अनुग्रह दान करना यह शील है तथा वह कर्म करे जिस से सभा में प्रतिष्ठा हो। सो गर्भ में यह उपदेश कैसे हो सकते हैं यह उपदेश तो बुद्धिमान् के ही ध्यान में आते हैं, और असत्य भाषण करना तो इष्ट ही है पुराण अवलोकन नहीं किये हैं तो क्यों उन की कथा लिखते हो किसी पुराण में यह आप दिखा सक्ते हैं कि नारद जी ने गर्भ में ज्ञान सीखा था यह आपने मिथ्या ही कल्पना की है॥

उत्तर-आप के सब सनातनी गौड़ भाई भी तौ शूद्र के हाथ की पूरी कचौरी खाते हैं तथा आप के सनातनी कान्यकुब्ज शूद्र के हाथ की मिठाई पेड़ा, तथा पंजाबी सनातनी रोटी भी तौ खाते हैं। तथा क्या आप पुराण के प्रमाण से भी यह सिद्ध कर सक्ते हैं कि प्राचीन काल में ब्राह्मण रोटी बनाने पर रहा करते थे? अथवा किसी पौराणिक ने आज तक महाभारतादि किसी कथा में यह बांचा वा सुना है कि ब्राह्मण ही रसोइया होते थे? जब नहीं है तो आर्यों पर ही आप का क्या आक्षेप है। उन्हों ने तौ पाकाधिकारी शूद्र की शरीर शुद्धि में बहुत कुछ नियम किया है। देखो सत्यार्थप्रकाश १० वें समुल्लास में—

आर्य्याधिष्ठाता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः

आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रपाठक २ पटल २ खण्ड २ सूत्र ४—आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें। आर्य्यों के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बान्ध के बनावें क्योंकि उन के मुख से उच्छिष्ट और निकला हुवा श्वास भी अन्न में न पड़े। आठवें दिन क्षौर नखच्छेदन करावें। इत्यादि ॥

जब कि आहार का प्रभाव स्मृति पर पड़ता है और—

आहाराऽऽचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोपि तादृशः ॥ सुश्रुते।

जो स्त्री पुरुष जिस प्रकार के विहार आहार और चेष्टा से युक्त होते हैं उन का पुत्र भी वैसा ही उत्पन्न होता है। परन्तु इस का यह फल नहीं निकल सक्ता है कि माता पिता के गुणों के अतिरिक्त गुण कर्म सन्तान में घट बढ़ न हो सकें वा बदल न सकें। जब कि प्रत्यक्ष में सुशिक्षित होकर भी कुशिक्षित तथा कुशिक्षित होकर भी सुशिक्षित बन जाते हैं, तब गर्भ के सुशिक्षितजन्मने पर कुशिक्षा पाय कुशिक्षित हो जावें वा गर्भ के कुशिक्षित जन्मने पर सुशिक्षा पाय सुधर जावें तौ आश्चर्य नहीं, क्योंकि जो शिक्षा प्रबल पड़ेगी उसी का प्रभाव रहेगा। परन्तु गर्भ के संस्कार तथा जन्म के पश्चात् के संस्कार दोनों समय के संस्कारों का तौ और भी अधिक फल होगा। परन्तु

कोई अटल नहीं हो सका। अपने विरुद्ध प्रबल प्रभाव से निर्बल दब जाते हैं और इस कारण वर्ण बदलना असम्भव नहीं। और यदि आप गर्भ में किसी प्रकार का सुधार नहीं मानते तो क्या आपके मत में गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार व्यर्थ हैं? यदि उनसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो उनका नामसंस्कार कैसे सार्थक होगा? वा आप इन संस्कारों को नहीं मानते? और

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳस्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा "आदित्यंगर्भमिति" पारस्कर गृह्यसूत्र

अर्थात् जब स्त्री रजस्वला होकर पांचवें दिन स्नान करके रजोरोग रहितहो तब (आदित्यं गर्भम्) इत्यादि मन्त्रोंसे गर्भाधानसंस्कार करना चाहिये॥ और—

अथ पुꣳसवनं पुरा स्यन्दतइति मासे द्वितीये तृतीये वा॥

पारस्कर गृह्यसूत्र

अनन्तर दूसरे वा तीसरे मास में पुंसवन संस्कार करे॥ तथा—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्

आश्वलायन गृह्यसूत्र

अर्थात् गर्भ के चतुर्थ मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिये। यदि गर्भ में किसी प्रकार का सुधार न होसका तो ये आचार्य लोग इन गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन संस्कारों का विधान न करते। संस्कार और शिक्षा सुधार के लिये ही होते हैं। सुधार शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार का है, किसी संस्कारके किसी कार्यसे शारीरिक सुधार होता है और किसी संस्कार के किसी कार्य से आत्मिक सुधार होता है॥

गर्भाधान होते ही जीव का प्रादुर्भाव नहीं। यह भी लिखना अज्ञान मूलक है—

सुश्रुतकारने शरीरस्थानके गर्भावक्रान्तिनामक तृतीयाध्यायमें स्पष्ट लिखाहैः—

तत्र स्त्रीपुरुषयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन। ततोऽग्निसोमसंयोगात्संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते। क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता

ज्ञोऽसावित्येवमादिभिः पर्य्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैर्वा परैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥

गर्भाधान समय में स्त्री पुरुष का संयोग होने पर पुरुषके शरीरसे वायु तेज को उभारता है पीछे वायु सहित तेज के उभारने से शरीर से छूटा वीर्य स्त्री के गर्भ में जाता और आर्त्तव नामक शोणित के साथ मिलता है। तब अग्नितत्त्वप्रधान शुक्र और सोमतत्त्वप्रधान शोणित दोनोंका सङ्घट्टरूप गर्भ गर्भाशय में पहुंचता है। इसी के साथ जानने, स्पर्श करने, सूंघने, देखने, सुनने और स्वाद लेने वाला अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों से वा मन से जानना आदि काम लेने वाला, आगे २ सन्तानोत्पत्ति करनेकी शक्ति रखने वाला, पगों से चलने, बुद्धि से साक्षी, शरीर का धारणकर्त्ता, वाणीसे बोलने वाला इत्यादि पर्यायवाचक नामोंसे जो कहा जाताहै वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा वास्तव में जिसका स्वरूप न्यूनाधिक नहीं होता इसीसे अविनाशी, अचिन्त्य, सत्त्व-रजस्तम के साथ सम्बन्ध रखने वाला देवासुरसम्बन्धी गुणों सहित वायु से प्रेरित हुआ गर्भाधान के पीछे गर्भाशय में प्रवेश करके स्थित होता है ॥

इस से सिद्ध है कि गर्भाधानसे जीवात्मा भी प्रवेश करता है तथा ऐसा न होता तो गर्भ की वृद्धि आदि भी न होती ॥

हम बतावें कि किस पुराण में गर्भ में ज्ञानोपदेश पाना लिखा है ? लीजिये-भागवत में कथा है कि गर्भगत प्रह्लाद ने नारद से उपदेश पाया। जब कि प्रह्लादकी माता गर्भवती थी तो इन्द्र उसे पकड़ कर लिये जाताथा, मार्ग में नारद ने रोका तब इन्द्र ने उत्तर दिया कि:—

इन्द्र उवाच—आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः।

भागवते सप्तमस्कन्धे षष्ठाध्याये श्लोकः ॥ ९ ॥

इस के पेट में देवतों के शत्रुका असह्य वीर्य है। अन्तमें वह कुछ काल गर्भवती नारद के समीप रक्षार्थ रही और प्रह्लाद कहता है कि तब—

अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥ १४ ॥ श्लो० ॥

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः ।

धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥ १५ ॥
तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाऽप्यजहात्स्मृतिः ॥ १६ ॥

मेरी माता गर्भवती इच्छापूर्वक सन्तानोत्पत्ति और रक्षा के लिये वहां रही ॥ १४ ॥ दयालु (नारद) ऋषि ने उस को धर्म का तत्त्व और ज्ञान ये दोनों दिये और मुझ निर्मल को उद्दिष्ट करके भी ॥ १५ ॥ परन्तु बहुत काल बीत जाने और स्त्री होने से माता को तो वह ज्ञान स्मृति में न रहा परन्तु ऋषि के अनुग्रह से मुझे अब भी स्मृति ने नहीं छोड़ा है ॥ १६ ॥

अब आप ही जज होकर न्याय कीजिये कि पुराणशिरोमणि भागवत में हमारा इष्टसाधक प्रमाण है वा नहीं ? यदि है तो मिथ्यावादी कौन ठहरा ?

ध० द्वि० पृ० १९ पं० १५ से—

"क्यों पण्डित जी ! ज्योतिष तो वेद का एक अंग है जिस की वेदाङ्ग में गिनती है जब ज्योतिष, गणित और पदार्थविद्या का विरोधी है तब वह वेदाङ्ग कैसे हो सकता है ज्योतिष ने जो कि वेद का नेत्रस्वरूप है कौनसा आपके पदार्थविद्या के पितामह पर आघात किया है? ज्योतिष विरुद्ध है यह किसी वेदमन्त्र से सिद्ध कर सक्ते हो? महर्षि आश्वलायन लिखते हैं (उदगयन आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः) उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे फल वाले नक्षत्र में चौलकर्म यज्ञोपवीत गोदान विवाह करना । इस में भी मुहूर्तादि की तिथि पाई जाती है अच्छेकाल में करने से अच्छा होता है यही तो फल है तथा आपके गुरुदेव स्वीकृत सुश्रुत सूत्रस्थान अ०२८

नक्षत्रपीडा बहुधा यथाकालाद्विपच्यते ॥

ग्रहनक्षत्रपीडा का फल समय में होता है । तथा अ० ६ ॥

ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा । कदाचिदव्यापन्नेष्वप्यृतुषु कृत्यापिशाचरक्षःक्रोधाधर्मैरित्यादि ॥

ग्रह नक्षत्र के विपरीत होने से तथा अभिचार पिशाच राक्षसादि से वे ऋतु में भी रोग होते हैं इत्यादि अनेक सद्ग्रन्थ ग्रहनक्षत्र का फल मानते हैं अब अथर्ववेद १९ । ९ । ७ में देखिये ॥

* आरेवती चाश्वयुजामेभंस आमेरयिं भरण्या आव-
हन्तु अष्टाविंशानिशिवानिशग्मानिसह योगं भजन्तु मे ॥
सुशकुनं मे अस्तु । अथर्व । शन्नो दिविचिचारग्रहाः । अथर्व ।

रेवती अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हम को ऐश्वर्य दें अट्ठाइस नक्षत्र हमको सुखकारी हों (सशकुनं) अच्छे शकुन हमको हों आकाशचारी ग्रह हम को शान्ति करें ॥

इत्यादि वेदों में जब नक्षत्र ग्रहों के अनिष्ट फल देने के भय से उनका जप शान्ति लिखी है फिर ज्योतिष से कौन बुद्धिमान् मुख फेर सक्ता है ज्योतिष के कारण ही भारतवर्षीय धर्म सत्यता में स्थित है यद्यपि इस समय इस विद्या के जानने वाले न्यून हैं, परन्तु अब भी जो परिश्रम कर गुरुमुख से पढ़ते हैं वे जो कथन करेंगे सो कभी मिथ्या नहीं हो सक्ता अभी चमत्कार वाले हैं कभी कभी समाचार पत्रों में भी प्रकाशित होते हैं। पर आप तो बाबा वाक्यं प्रमाणं लिये घर में बैठे हैं आप को विदित कैसे हो । जातकाभरण किसी से पढ़ते तो समझ में आता तीन प्रकार के वर्ष होते हैं चान्द्र, नक्षत्र और सावन सो इस स्थान में सावन वर्ष है यह शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को प्रारम्भ होकर मावस को पूर्ण होता है इस हिसाब से आद्य पक्ष शुक्ल हुआ और वह नक्षत्र भी शुक्लपक्ष की अष्टमी को प्राप्त हो सकता है " ॥

उत्तर—ज्योतिष निःसन्देह वेदाङ्ग है। परन्तु नवीन कल्पित ज्योतिष नहीं किन्तु सिद्धान्तशिरोमणि सूर्यसिद्धान्तादि हैं । यदि मुहूर्त्तचिन्तामणिनक्षत्र प्रकरण श्लोक १३—

तीक्ष्णोग्राम्बुपभेषु मद्यमुदितम्

अर्थात् तीक्ष्ण उग्रसंज्ञक और वरुण के नक्षत्रों में मद्य पीना कहा है । फिर इसी का पीयूषधारा टीका देखिये:—

रौद्रेपित्र्येवारुणे पौरुहूत्ये याम्ये सार्पे नैर्ऋते चैव धिष्ण्ये ।
पूर्वाख्येषु त्रिष्वपि श्रेष्ठउक्तो मद्यारम्भःकालविद्भिःपुराणैः ॥

अर्थात् आर्द्रा मघा शतभिषा भरणी अश्लेषा मूल पूर्वाषाढ़ा पूर्वाभाद्रपदा पूर्वाफाल्गुनी, इन नक्षत्रों में मद्यपान श्रेष्ठ कहा है ॥

---

* यथादृष्टमशुद्धमेव विन्यसते । तु० रा०

विशाखाकृत्तिकापूर्वामूलार्द्राभरणीमघा। आश्लेषाज्येष्ठयेभेषु भौमेवाशाकुनेबले ॥ लग्ने वा दशमेभौमेचौरसद्द्रव्यलब्धयः ॥

मुहूर्त्तगण०

विशाखा,कृत्तिका,तीनोंपूर्वा,मूल,आर्द्रा,भरणी,मघा,अश्लेषा और ज्येष्ठा नक्षत्र, मङ्गलवार वा शकुन का बल होने पर जब लग्न वा दशवें मङ्गल हो तब चौर को अच्छे द्रव्यों का लाभ होता है ॥

क्या इस प्रकार के ज्योतिष नामधारी, मद्य और चोरी के मुहूर्त्त बता कर चोरों और मद्यपों से दक्षिणा दिलाने वाले ग्रन्थ कभी वेदाङ्ग हो सक्ते हैं? कभी नहीं, हमें भय है कि आप अब किसी वेदमन्त्र का अनर्थ करके मद्य और चोरी भी वेद से सिद्ध न करने लगें ॥

अब यथार्थ वेदाङ्ग ज्योतिष सुनियेः—

भपञ्जरः स्थिरोभूरेवावृत्याऽऽवृत्यप्रातिदैवसिकौ ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणामिति ॥

आर्यभट्टीये

अर्थात् सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं । पृथिवी ही लौट २ कर प्रतिदिन ग्रहनक्षत्रों के उदय अस्त कराती है । यह सत्य ज्योतिष वेद का अङ्ग है ॥

आप जो आश्वलायन सूत्र में (नवीन) ज्योतिप बताते हैं,सो भ्रम है। उस का तात्पर्य तमोगुण की न्यूनता से है; क्योंकि उत्तरायण में प्रकाश अधिक होता है। शुक्लपक्ष मेंभी प्रकाश अधिक होता है। प्रकाशकी अधिकता में तमोगुण निर्बल हो जाता है । इस लिये वैदिकसंस्कार तभी करना उत्तम है। शुभ से तात्पर्य जालग्रन्थानुसारी शुभनक्षत्र । नक्षत्र के प्रभाव से शान्त स्वच्छ दिन से तात्पर्य है, न कि चोरी और मद्यपान के मुहूर्त बताने वाले मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि होते हैं, उन सबके विचारसे स्वच्छ दिन में जो कुछ वायु, शीत, उष्ण,वर्षा आदि होते हैं, उन सब के विचार से स्वच्छ दिनमें करे। हमारा वा स्वामीजी का यह विचार न था,न है कि सम्भव ज्योतिप को भी न मानें;किन्तु असम्भव ज्योतिषाभास के न मानने का तात्पर्य है॥

सुश्रुत में जो ग्रहनक्षत्रादिकृत पीड़ा है सो सूर्यादि की धूप आदि से जो ज्वरादि रोग हो जाते हैं, उनका वर्णन है, न कि ऊपर के नमूने वाले जालग्रन्थप्रोक्त फलित से सम्बन्ध है ॥

अथर्ववेद के मन्त्र का तात्पर्य यह है कि अश्विनी से रेवती पर्यन्त २८ नक्षत्र सुखदायक हों। इस से ज्योतिष (जो आपने माना है) का सम्बन्ध नहीं; किन्तु परमात्मा से प्रार्थना है कि नक्षत्र हमें अनुकूल रहें। जिस प्रकार कोई यह प्रार्थना करे कि हम जो कुछ भोजन करते और जल पीते हैं, वह सुखदायक हो, तौ क्या इस प्रार्थना से यह सिद्ध हो जायगा कि भोजन और जल प्रसन्न वा क्रुद्ध हुवा करते हैं और अपने नाम का जप पाठ पुरश्चरणादि कराकर सुख देते हैं ? कभी नहीं। यही उत्तर शकुन और ग्रहसम्बन्धी अथर्ववाक्य का समझिये ॥

आप जो चान्द्रमास की जगह सावन वर्ष बताकर जातकाभरण का समाधान करते हैं, सो नहीं होता; क्योंकि वहां वैशाख शब्द पड़ा है। वैशाख शब्द का व्याकरणानुसार यह अर्थ है कि—

सास्मिन्पौर्णमासीति। अष्टाध्यायी ४। २। २०

विशाखया युक्ता पौर्णमासी वैशाखी, वैशाखी पौर्णमासी यस्मिन् सः वैशाखः। अर्थात् विशाखा नक्षत्र वाली पूर्णमासी जिस मास को पूर्ण करे वह मास "वैशाख" कहाता है। जब कि वहां वैशाख पद है और वैशाख अपने शब्दार्थानुसार पूर्णमासी को पूर्ण हो जाता है। तब आप का सावन मास चान्द्रमास की ज्येष्ठकृष्णा अमावस को पूर्ण होगा। जो विशाखा की पौर्णमासी को पूर्ण होने से ही वैशाख था। इस लिये यह समाधान ठीक नहीं। यदि किसी प्रकार खैंचातानी से इस को मान भी लो तौ १२ राशियों के सभी श्लोक हम नीचे लिखते हैं और निवेदन है कि आप इन की सम्भवता सिद्ध कीजिये:—

आयुस्तस्य विनिर्देश्यं कार्त्तिकस्य सितेतरे।
पक्षे बुधे नवम्यां च निशीथे च शिरोरुजा ॥
निधनं स्यान्निशानाथे जन्मकाले जनुः स्थिते ॥

अर्थ-जिस की "मेष" राशि हो उस की मृत्यु कार्तिक वदि नवमी बुधवार आधीरात्रि पर शिर में दर्द से हो ॥ (जातकाभरण)

माघमासे नवम्यां च शुक्लपक्षे भृगोर्दिने।
रोहिण्यां निधनं विद्याज्जन्मनीन्दौ वृषस्थिते ॥

(अर्थ) "वृष" राशि वाले मनुष्य की मृत्यु माघशुदि नवमी शुक्रवार को रोहिणी नक्षत्र में हो ॥

वैशाखे शुक्लपक्षे च द्वादश्यां बुधवासरे ।
मध्याह्ने हस्तनक्षत्रे निर्याणञ्च विनिर्दिशेत् ॥

(अर्थ) " मिथुन " राशि वाला मनुष्य वैशाख शुदि द्वादशी बुधवार को मध्याह्न समय हस्त नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त हो ॥

माघमासे सिते पक्षे नवम्यां भृगुवासरे।
रोहिणीनामनक्षत्रे व्रजेदायुः प्रपूर्णताम् ॥

(अर्थ) "कर्क" राशि वाले मनुष्य की आयु माघशुदि नवमी शुक्रवार को रोहिणी नक्षत्र में पूर्ण हो ॥

(" वृष " राशि वाले मनुष्य के लिये यही समय नियत किया है) ।

फाल्गुनस्य सिते पक्षे पञ्चम्यां सोमवासरे ।
मध्याह्ने जलमध्ये च मृत्युर्नूनं न संशयः ॥

(अर्थ) "सिंह" राशि वाले मनुष्य की मृत्यु फाल्गुन शुदि ५ पञ्चमी सोमवार को मध्याह्न समय जल के बीच में हो, इस में कुछ सन्देह नहीं है ॥

चैत्रे कृष्णत्रयोदश्यां निधनं रविवासरे ।

(अर्थ) "कन्या" राशि वाले मनुष्य की मृत्यु चैत्रवदि त्रयोदशी रविवार को हो ॥

पञ्चाशीतिर्भवेदायुर्वैशाखस्याद्यपक्षके ।
सार्पेऽष्टम्यां भृगोर्वारे निधनं पूर्वयामके ॥

(अर्थ) " तुला " राशि वाला मनुष्य ८५ वर्ष की आयु में वैशाखवदि ८ अष्टमी शुक्रवार को अश्लेषा नक्षत्र में मरण को प्राप्त हो ॥

जिस मास की पूर्णमासी को जो नक्षत्र होता है उसी के नाम से वह मास पुकारा जाता है, जैसे चित्रा नक्षत्र से चैत्र, विशाखा से वैशाख,ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, पूर्वाषाढा से आषाढ, श्रवण से श्रावण पूर्वाभाद्रपदा से भाद्रपद, अश्विनी से आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरसे मार्गशिर,पुष्य से पौष, मघा से माघ और पूर्वाफाल्गुनी से फाल्गुन पुकारा जाता है ॥

इस के अनुकूल चैत्र की पूर्णिमा * को चित्रा नक्षत्र होता है और वैशाख बदि ८ को श्रवण नक्षत्र होताहै, परन्तु अश्लेषा नक्षत्र चित्रा से २२वां है इस लिये पूर्णिमा से २२ दिन पश्चात् अर्थात् वैशाख शुदि ७ को होगा, कृष्णपक्ष की अष्टमी को किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥

ज्येष्ठमासे सिते पक्षे दशम्यां बुधवासरे ।
हस्तनक्षत्रसंयुक्ते मध्ये रात्रिगते सति ॥

(अर्थ) 'वृश्चिक' राशि वाले मनुष्यकी मृत्यु ज्येष्ठशुदि दशमी बुधवार को हस्त नक्षत्र में मध्य रात्रि पर हो ॥

आषाढस्य सिते पक्षे पञ्चम्यां भृगुवासरे ।
निशायां हस्तनक्षत्रे निधनं सर्वथा भवेत् ॥

(अर्थ) 'धन' राशि वाले मनुष्य की मृत्यु आषाढ शुदि पञ्चमी शुक्रवार को हस्त नक्षत्र में हो ॥

श्रावणस्य सिते पक्षे दशम्यां भौमवासरे ।
ज्येष्ठायां निधनन्नूनं चन्द्रे मकरसंस्थिते ॥

(अर्थ) 'मकर' राशि वाले मनुष्य की मृत्यु अवश्य श्रावण शुदि दशमी मङ्गलवार को ज्येष्ठा नक्षत्र में हो ॥

भाद्रमासे सिते पक्षे चतुर्थ्यां शनिवासरे ।
भरणीनामनक्षत्रे गृणन्ति मरणं नृणाम् ॥

(अर्थ) 'कुम्भ' राशि वाले की मृत्यु भाद्रपद शुदि चतुर्थी शनिवार को भरणी नक्षत्र में हो ॥

यहां भी जातकाभरणकर्त्ता ने गणित में भूल की है, क्योंकि भरणीनक्षत्र श्रवण नक्षत्र से सातवां है, इस लिये श्रावण की पूर्णमासी से ७ दिन पश्चात् भाद्रपद कृष्णा ७ सप्तमीको आवेगा, शुक्लपक्ष की ४ को कदापि नहीं आसकता॥

आश्विनस्य सिते पक्षे द्वितीयायां गुरोर्दिने ।
कृत्तिकायां च नक्षत्रे सायं मृत्युर्न संशयः ॥

* बहुधा एक, दो वा तीन दिन का अन्तर भी पड़ जाता है, परन्तु तीन दिन से अधिक अन्तर पड़ना असम्भव है ॥

(अर्थ) 'मीन' राशि वाले का मृत्यु आश्विन शुदि २ बृहस्पतिवार को सायंकाल कृत्तिका नक्षत्र में हो, इस में कुछ संदेह नहीं ॥ (जातकाभरण)

यहां भी गणित में भूल है, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र पूर्वाभाद्रपदा से पांचवां है इस लिये आश्विन बदि पञ्चमी को आना चाहिये, आश्विन शुदि २ को किसी प्रकार से नहीं आसक्ता ॥

गणित की भूलों को छोड़कर (जिन से ग्रन्थकर्त्ता की गणितज्ञता अच्छे प्रकार झलकती है) इस ग्रन्थ के अनुकूल सब मनुष्यों को उक्त ११ * दिनों में ही मरना चाहिये, वर्ष भर के शेष ३४९ दिनों में किसी का भी मृत्यु न होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की कोई राशि अवश्य होती है; परन्तु संसार भर के मनुष्यों की गणना तो दूर २ रही, एक नगर ही की परीक्षा से इस बात का मिथ्यात्व प्रकट हो जायगा अर्थात् परीक्षा से ज्ञात होगा कि कोई भी दिन ऐसा न होगा कि जिस में कुछ मनुष्यों का मृत्यु न हुवा हो। परीक्षा से यह भी खुल जायगा कि एक राशि के सब मनुष्यों का मृत्यु एक ही (नियत) दिन नहीं होता। केवल इतना ही नहीं किन्तु इस विषयमें फलित के ग्रन्थों में बड़ा परस्परविरोध है। जातकाभरण के विरुद्ध मानसागरी पद्धति में निम्नस्थ लेखानुसार दिन निश्चित किये हैं। साथ ही मानसागरी के कर्त्ता महाशय की गणितज्ञता और पाण्डित्य से भी कुछ परिचय किया जावे-

(मेष) कार्तिक मासे तिथि चौथ वार मङ्गल भरणी नक्षत्रे देहं त्यजति ॥

(अर्थ) मेष राशि वाला कार्तिक ४ मङ्गलवार भरणीनक्षत्र में देहत्यागता है॥

वाह! ग्रन्थकर्त्ता जी! आपका पाण्डित्यधन्य है!! कहिये तो यह कौन सी भाषा है? संस्कृत, प्राकृत अथवा कोई अन्य भाषा है?

यह ग्रन्थ व्याकरण की अशुद्धियों से सर्वत्र भरपूर है, अतएव इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया, पाठकगण स्वयं देख सकते हैं। गणित की भूलों से भी ये ग्रन्थ ऐसे ही आच्छादित हैं। पूर्वोक्त गणित में ग्रन्थकर्त्ताने यह युक्तिकी है कि पक्ष नहीं बतलाया परन्तु भरणी नक्षत्र कृत्तिकासे१पूर्वलाहै।

---

* 'वृष' और 'कर्क' राशि के लिये एक ही दिन माघ शुदि९ नियत किया है इस लिये १२ राशि के लिये ११ दिवस हुए ॥

इसलिये कार्त्तिक की पूर्णमासी से एक दिन पूर्व अर्थात् कार्त्तिक शुदि १४ को आवेगा, किसी पक्ष की चतुर्थी को नहीं आसकता ॥

(वृष) माघमासे शुक्लपक्षे तिथौ ९ शुक्र दिने रोहिणी नक्षत्रे अर्द्धरात्रौ देहं त्यजति ॥

(अर्थ) 'वृष' राशि वाले मनुष्य का मृत्यु माघ शुदि नवमी शुक्रवार को रोहिणी नक्षत्र में अर्द्धरात्रि समय पर हो ॥

(मिथुन) पौषमासे कृष्णपक्षे अष्टमी दिन बुधवारे आर्द्रा नक्षत्रे प्रथमप्रहरे देहं त्यजति ॥

(अर्थ) 'मिथुन' राशि वाले मनुष्य का मृत्यु पौषवदि अष्टमी बुधवार आर्द्रा नक्षत्र में प्रथम प्रहर में हो ॥

यहां भी गणित में भूल है क्योंकि आर्द्रा नक्षत्र मृगशिर से १ आगे है इस लिये पौष बदि १ को आवेगा, अष्टमी को नहीं ॥

(कर्क) फाल्गुणमासे शुक्लपक्षे ४ प्रहरे गोधूलिक वेलायां देहं त्यजति ॥

(अर्थ) 'कर्क' राशि वाले मनुष्य का मृत्यु फाल्गुन शुदि ४ को गोधूलिक वेला में हो ॥

(सिंह) श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी दिने पूर्वाफाल्गुणी नक्षत्रे रविवारे १ प्रहरे देहं त्यजति ॥

(अर्थ) 'सिंह' राशि वाले मनुष्य का मृत्यु श्रावण शुदि १० रविवार को प्रथम प्रहर में पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में हो ॥

यहां भी गणित में भूल है क्योंकि पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र श्रवण से ११ नक्षत्र पूर्व है इस लिये श्रावण शुदि ४ को आयेगा ॥

(कन्या) भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे नवमीदिने बुधवारे हस्त नक्षत्रे गोधूलिकवेलायां देहं त्यजति ॥

(अर्थ) 'कन्या' राशि वाले मनुष्य का मृत्यु भाद्रपद शुदि ९ बुधवार को गोधूलिक वेला में हस्त नक्षत्र में होता है ॥

यहां भी भूल है, क्योंकि हस्त नक्षत्र श्रवण से अठारहवां है इस लिये भाद्रपद शुदि ३ को आवेगा, ९ को नहीं ॥

(तुला) वैशाखमासे शुक्लपक्षे १३ शुक्रवारे शतभिषा नक्षत्रे मध्याह्ने वेलायां देहं त्यजति ॥

(अर्थ) " तुला " राशि वाले मनुष्य का मृत्यु वैशाख शुदि १३ शुक्रवार को मध्याह्न समय शतभिषा नक्षत्र में हो ॥

यहां भी गणित में भूल है क्योंकि शतभिषा नक्षत्र विशाखा से १९ नक्षत्र पूर्व है इसलिये वैशाख की पूर्णमासी से १९ दिन पूर्व अर्थात् वैशाखवदि ११ को आयेगा, शुदि १३ को नहीं ॥

(वृश्चिक) ज्येष्ठमासे कृष्णपक्षे तिथौ ११ मङ्गलवारे अनुराधानक्षत्रे १ प्रहरे देहं त्यजति ॥

(अर्थ) " वृश्चिक " राशि वाले मनुष्य का मृत्यु ज्येष्ठवदि ११ मङ्गलवार को अनुराधा नक्षत्र में होता है ॥

अनुराधा नक्षत्र विशाखा से १ पश्चात् है इस लिये ज्येष्ठवदि १ को आयेगा, ११ को कदापि नहीं ॥

(धन) आषाढमासे शुक्लपक्षे तिथि १ गुरुवारे हस्तनक्षत्रे गोधूलिकवेलायां देहं त्यजति ॥

(अर्थ) " धन " राशि वाले मनुष्य का मृत्यु आषाढ़ शुदि १ बृहस्पतिवार को हस्त नक्षत्र में होता है ॥

हस्त नक्षत्र पूर्वाषाढ़ा से ७ नक्षत्र पूर्व है इसलिये आषाढ़ शुदि ८ को आयगा, १ को कदापि नहीं आसकता ॥

(मकर) कार्त्तिकमासे शुक्लपक्षे तिथि ५ शुक्रवारे श्रवण नक्षत्रे देहं त्यजति ॥

(अर्थ) " मकर " राशि वाले मनुष्य का मृत्यु कार्त्तिक शुदि ५ शुक्रवार को श्रवण नक्षत्र में होता है ॥

(कुम्भ) माघमासे शुक्लपक्षे तिथि २ गुरुवारे उत्तराभाद्रपदनक्षत्रे मृत्युर्भवति ॥

(अर्थ) " कुम्भ " राशि वाले मनुष्य का मृत्यु माघशुदि २ गुरुवार को उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र में होता है ॥

(मीन) माघमासे शुक्लपक्षे तिथि१२ उत्तराभाद्रपद नक्षत्रे गुरुवारे प्रातःकाले देहं त्यजति ॥

(अर्थ) " मीन" राशि वाले मनुष्य का मृत्यु माघशुदि १२ गुरुवार को उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र में हो ॥

यहां गणित में प्रत्यक्ष विरोध है क्योंकि (कुम्भ और मीन राशि में) माघ शुदि २ तथा माघ शुदि १२ के लिये एक ही (उत्तराभाद्रपदा) नक्षत्र है; जो कि सर्वथा असम्भव है । यह इन ज्योतिषियों के पाण्डित्य और गणितज्ञता का कुछ परिचय है । इस परस्पर विरोध में भी इन लोगों की यह युक्ति है कि यदि कोई मनुष्य इन दोनों दिनों में से (जो 'मानसागरी' और 'जातकाभरण' में एक ही राशि के लिये नियत किये गये हैं) किसी दिन मर जाय तौ वैसाही प्रमाण सुनादें । जब राशिफल ही की यह दशा है तौ " प्रथमग्रासे मक्षिकापातः " की कहावत चरितार्थ होती है । फिर वह बेनीव का घर, यह बालू की भींत कब तक ठहर सकती है ? अर्थात् इस फलित ज्योतिष को विद्वान् और सभ्य लोग कैसे मान सकते हैं ?

ध० दि पृ० २० पं० २९ में जो छान्दोग्य का वचन लिख कर स्वप्न का फल लिखा है सो,

उत्तर-यह है कि न तौ सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकरणमें स्वप्नको मिथ्या लिखा, न द० ति० भास्कर में, न भास्करप्रकाश में, फिर आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे" के तुल्य आपका लिखना हुवा वा नहीं? प्रत्युत इस लेख से आप के नवीन वेदान्त पर आघात होता है जो स्वप्न के दृष्टान्तसे जगत को मिथ्या बताते हैं। क्योंकि आप स्वप्न को इस वाक्यसे सफल सिद्ध करते हैं और वेदान्ती लोग मिथ्यास्वप्नवत् जगत् का मिथ्यात्व निरूपण करते हैं

ध० दि० पृ० २१ पं० २१—

सत्यार्थ में माता की शिक्षा में उपस्थादि का स्पर्श निषेध लिखा है, इसपर मिश्रजी ने लिखा था कि ऐसी शिक्षा करने से निर्लज्जता होगी,इस पर आप कहते हैं ऐसी शिक्षाके विना ही दुर्दशा है,अच्छा ऐसी ही शिक्षा माताओं से कराओ,कारण कि दयानन्दीयपन्थ में लाज कहाँ,वहां तौ पति नियत तारीख से अधिक दिन तक परदेशमें रहे तौ वह दूसरेसे नियोग करलें ऐसा उपदेश है ॥

उत्तर-स्वामी जी महाराज का लिखना ठीक है कि माता उपस्थेन्द्रिय स्पर्शादि से पुत्र को रोके, आप इस अतिबाल्यावस्था की शिक्षा को निर्लज्जता का हेतु समझते हैं, तो क्या आप नहीं जानते कि बालक बहुत काल तक नग्न अवस्था में माता की गोद में सोता है और माता ही प्रायः उस को विष्ठा मूत्रादि का त्याग कराती है, अपने हाथों से उस के गुह्य स्थानों का शौच करती है, तब उस को उस छोटी अवस्था के में निर्लज्जता क्या हो सकती है ५ वर्ष वा ८ वर्ष से पूर्व अवस्था के पश्चात् तो स्वामीजी के लेखानुसार बालक गुरुकुल में ही चला जाता है तब तो माता से पृथक् ही हो जाता है। बस ८ वा ५ वर्ष से पूर्व बाल्यावस्था के पुत्र को माता शिक्षा दे तो लज्जा का नाश किसी प्रकार संभव नहीं॥

दयानन्दीयपन्थ में निस्सन्देह ऐसी निर्लज्जता नहीं जैसी कि पुराणों के परदादा महाभारत में लिखी है। महाभारत आदि पर्व अध्याय १२० में पाण्डु अपनी स्त्री कुन्ती से कहते हैं कि-

उत्तमाद्देवरात्पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि॥३४॥ अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः। आत्मशुक्रादपि पृथे! मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥३५॥तस्मात् प्रहेष्यामयद्य त्वां हीनः प्रजननात्स्वयम्।सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनम्॥३६॥ शृणु कुन्ति! कथामेतां शारदण्डायनीं प्रति। सा वीरपत्नी गुरुणा नियुक्ता पुत्रजन्मनि॥ ३७॥ पुष्पेण प्रयता स्नाता निशि कुन्ति! चतुष्पथे। वरयित्वा द्विजं सिद्धं हुत्वा पुंसवनेऽनलम्॥ ३८॥ कर्मण्यवसिते तस्मिन्सा तेनैव सहाऽवसत्। तत्र त्रीन् जनयामास दुर्जयादीन्महारथान्॥ ३९॥ तथा त्वमपि कल्याणि! ब्राह्मणात्तपसाधिकात्। मन्नियोगाद्यत क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति॥ ४०॥

(अर्थ) हे कुन्ती! देवर (द्वितीय वर) जो उत्तम हो उस से आपत्काल में लोग सन्तान की कामना करते हैं॥ ३४॥ और व्यभिचार नहीं; किन्तु

धर्म फलदायक उत्तम सन्तान को प्राप्त होते हैं। यह स्वायम्भुव मनुने कहा है ॥३५॥ इस कारण हे कुन्ति! अब मैं तुझे आज्ञा दूंगा कि अपने सदृश वा उच्च पुरुष से सन्तान उत्पन्न कर; क्योंकि मैं स्वयं सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ हूं ॥ ३६ ॥ हे कुन्ति! शारदण्डायनी की कथा सुन। उस वीरपत्नी ने पुत्र-जन्मनिमित्त उच्च से (नियुक्ता) नियोग किया था ॥ ३७ ॥ जब वह पुष्प-वती होकर स्नान करके निमटी तब रात्रि को चतुष्पथ में एक सिद्ध द्विज को वर करके पुंसवन अर्थात् पुरुष पुत्र को उत्पन्न करने निमत्त अग्नि में होम किया ॥ ३८ ॥ गर्भाधानसंस्कार निमटने पर वह वीरपत्नी उस द्विजसे समागम को प्राप्त हुई, उस से दुर्जय आदि ३ महारथ उत्पन्न हुवे ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार हे कुन्ति! तू भी किसी तपमें अधिक ब्राह्मण से मेरी आज्ञानुसार सन्तानोत्पत्ति का यत्न कर ॥ ४० ॥ फिर-आदि पर्व अ० १९८ में-

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः। नह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम!॥ ७ ॥ युधिष्ठिर उवाच- न मे वागऽनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मतिः। वर्त्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथञ्चन ॥ १३ ॥ श्रूयते हि पुराणेपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥१४॥ तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। सङ्गताऽभूद्दश भ्रातृनेकनाम्नः प्रचेतसः॥ १५ ॥ गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम!। गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥१६॥ सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्ष्यवद्भुज्यतामिति। तस्मादेतमहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम!॥ १७ ॥ कुन्त्युवाच-एवमेतद्यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः। अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहम-ऽनृतात्कथम् १८ व्यासउवाच-अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे!"धर्मश्चैव सनातनः"। यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः॥२१॥

अर्थ-एक साथ एक स्त्री के अनेक पतियों का होना मेरी बुद्धि में लोक और वेद से विरुद्ध और अधर्म है क्योंकि हे द्विजोत्तम! बहुतसे पुरुषोंकी एक

स्त्री नहीं हो सकती ॥७॥ इस द्रुपद की बात को सुनकर धर्म्मराज सत्यवादी महाराज युधिष्ठिर बोले कि हे राजा द्रुपद ! मेरी वाणी असत्य को कभी नहीं कहती और न मेरी बुद्धि अधर्म में प्रवृत्त होती है किन्तु मेरा मन इस काम में प्रवृत्त है इस लिये इस कार्य (एक स्त्री को अनेक पति करने) में किसी प्रकार अधर्म्म नहीं है ॥ १३ ॥

क्योंकि पुराणों में सुनते हैं कि जटिला नामक गौतम ऋषि की लड़की ने सप्त ऋषियों के साथ सहवास किया अर्थात् एक साथ सात पति किये॥१४॥

ऐसे ही मुनिजा वार्क्षी नाम्नी ने प्रचेतस् नाम के दश तपस्वी भाइयों से गमन किया ॥ १५ ॥ धर्मज्ञ लोग गुरु के वचन को धर्म्मयुक्त कहते हैं और सब गुरुओं में माता रूप गुरु ही श्रेष्ठ है ॥१६॥ वह माता हम को कह चुकी है कि भिक्षा के समान सब जने इस [द्रौपदी]को भोगो, इसलिये मैं इस को परमधर्म्म मानता हूं ॥ १७ ॥

कुन्ती बोली कि धर्म्मात्मा युधिष्ठिर ने जैसा कहा है वैसा ही ठीक है, असत्य से मुझे बहुत ही भय है, मैं असत्य से कैसे छूट सकूंगी ॥१८॥ तब वेदव्यासजी बोले कि हे कुन्ती! तुम असत्य से छूटोगी,यह सनातनधर्म है,मैं राजा द्रुपद से कहता हूं,वह मेरे वचन को सुने ॥१९॥ जो कुछ राजा युधिष्ठिर ने कथन किया है वह "सनातन धर्म है" इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२०॥

अब सनातनधर्मसभा के सभासदों को उचित है कि नियोग का खण्डन कभी न करें क्योंकि महाभारत में एक स्त्री को एक साथ अनेक ख़सम (पति) करने का नामही "सनातनधर्म्म" लिखा है केवल एक स्त्री को अनेक पति करने का नामही सनातनधर्म नहीं है किन्तु व्यभिचार करने को भी सनातनधर्म्म लिखा है। देखो आदि पर्व अ० १२२—पाण्डुरुवाच—

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वन्निबोध मे। पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्म्मविद्भिर्महात्मभिः ॥३॥ अनावृत्ताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने। कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि! तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे! पतीन्। नाधर्म्मोऽभूद्वरारोहे! स हि धर्म्मः पुराऽभवत् ॥५॥ तञ्चैव धर्मं पौराणं तिर्य्यग्योनिगताः प्रजाः। अद्याप्यनुविधीयन्ते कामक्रोधवि-

वर्जिताः ॥६॥ प्रमाणदृष्टो धर्म्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः। उत्तरेषु च रम्भोरु! कुरुष्वद्यापि पूज्यते॥७॥ स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि "धर्म्मः सनातनः"। अस्मिंस्तु लोके न चिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते!। स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु॥८॥

महाराज पाण्डु अपनी स्त्री कुन्ती से कहते हैं कि धर्मात्मा विद्वान् ऋषियों ने जिस पुराण धर्म को देखा उस सनातन पुराण धर्मको मैं कहता हूं, उस धर्म्म को मुझ से जान ॥३॥ हे सुन्दर हास्य वाली कुन्ती! पूर्वकाल में सब स्त्रियां स्वतन्त्र थीं अर्थात् जैसे वर्त्तमान समय में स्त्री पतिके आधीन हैं ऐसे पूर्वकाल में स्त्री किसी पुरुष के बन्धन (क़ैद) में नहीं थीं किन्तु स्वेच्छाचारिणी थीं ॥४॥ कुआरेपन(कन्यावस्था) से ही पतियों को उल्लङ्घन करके स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करने पर भी उन स्त्रियों को पाप नहीं लगा क्योंकि वह पहिले धर्म्म था ॥ ५ ॥ उस "पुराण धर्म्म" को काम क्रोध से रहित पशु पक्षी आदि प्राणी अद्यापि पाल रहे हैं॥६॥ इस प्रामाणिक धर्म्म का महर्षि लोग पूजा (सत्कार) करते हैं। उत्तर कुरु में अब भी इस धर्मकी पूजा हो रही है ॥७॥ स्त्रियों पर अनुग्रह (मेहर्बानी) करने वाला "यही सनातनधर्म्म" है। इस लोकमें बहुत दिन से यह मर्यादा स्थापित नहीं हुई है, यह मर्यादा जिस पुरुष से और जिस कारणसे स्थापित हुई है वह मेरे से तू विस्तारपूर्वक श्रवण कर ॥ ८ ॥

बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम्। श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्याऽभवन्मुनिः ॥९॥ मर्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना। कोपात्कमलपत्राक्षि! यदर्थं तन्निबोध मे॥१०॥ श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः। जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाऽब्रवीत् ॥११॥ ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकाराऽमर्षचोदितः। मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ॥१२॥ क्रुद्धन्तन्तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह। मा तात! कोपं कार्षीस्त्वमेष "धर्म्मः सनातनः" ॥१३॥ अनावृत्ता

हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि। यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः ॥ १४ ॥ पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च। न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि ॥१९॥ सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि। दमयन्ती जगामर्षिं वसिष्ठमिति नः श्रुतम् ॥२१॥ तस्माल्लेभे च सा पुत्रमश्मकं नाम भामिनी ॥ २२ ॥ अस्माकमपि ते जन्म विदितं कमलेक्षणे! । कृष्णद्वैपायनाद्भीरो! कुरूणां वंशवृद्धये॥२३॥ अत एतानि सर्वाणि कारणानि समीक्ष्य वै। ममैतद्वचनं धर्म्यं कर्त्तुमर्हस्यऽनिन्दिते! ॥ २४ ॥ ऋतावृतौ राजपुत्रि! स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते! । नातिवर्त्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः ॥ २५ ॥ शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति। धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ।२६।

भा० आ० प० अ० १२२॥ ह० सं० शक १८०९

हम ने सुना है कि उद्दालक नाम एक ऋषि हुवे। उनका पुत्र श्वेतकेतु नामक मुनि हुआ ॥९॥

उस श्वेतकेतु ने कोप से यह धर्ममर्यादा स्थापित की। उस श्वेतकेतु को मुझ से तू सुन ॥ १० ॥

श्वेतकेतु और उस के पिता उद्दालक के सम्मुख एक ब्राह्मण श्वेतकेतु की माता का हाथ पकड़ कर बोला कि हम दोनों गमन करें ॥ ११ ॥

ऐसे बलात्कार (ज़बरदस्ती) से माता को प्राप्त करते (लेजाते) देख कर क्रोध (गुस्से) में आकर पुत्रने कोप किया॥ १२ ॥ श्वेतकेतु को गुस्से में (क्रोधाविष्ट) देखकर महर्षि उद्दालक जी बोले कि हे तात! क्रोध मत कर क्योंकि यह सनातन* धर्म है ॥१३॥ हे पुत्र! जैसे गाय बैल आदि सब स्वतन्त्र हैं ऐसे ही पृथिवी पर सब वर्णों की स्त्रियें भी स्वतन्त्र हैं अर्थात् किसी से घिरी हुई वा बन्धन में नहीं हैं ॥१४॥ पति की आज्ञा पाकर जो

* वाह रे सनातन धर्म!!!

स्त्री नियोग करके पुत्रोत्पत्ति नहीं करेगी उस स्त्री को भ्रूणहत्या का पाप लगेगा ॥१९॥ हम ने सुना है कि राजा सौदास ने दमयन्ती का वशिष्ठ ऋषि से नियोग कराया और दमयन्ती ने वसिष्ठ ऋषि से गमन किया और वसिष्ठ ऋषि से दमयन्ती के अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२२॥ और कुरुकुल की वृद्धि के लिये वेदव्यास जी से हमारा जन्म हुआ है इसको भी तू जानती है ॥२३॥ इन सब कारणों को विचार के मेरे धर्मयुक्त वचनानुसार तू पुत्रोत्पत्ति के लिये नियोग कर ॥ २४ ॥ हे पतिव्रते ! राजपुत्री ! धर्म के जानने वाले इसी को धर्म कहते हैं कि प्रत्येक ऋतुकाल में स्त्री अपने पति को छोड़ कर पर पति के पास न जाय परन्तु ऋतुकाल को छोड़ कर अन्य कालों में स्त्रियों को स्वतन्त्रता है सन्त लोग इसी को पुराण (सनातन) * धर्म कहते हैं ॥ २५ । २६ ॥

महाभारत आदि पर्व अध्याय १७९ में कहा है कि कल्माषपाद अयोध्या के राजा ने वसिष्ठ ऋषि से कहा कि—

इक्ष्वाकूणां च येनाऽहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ? ।
त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदांवर ! ॥ ३३ ॥
अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम ! ।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस से इक्ष्वाकुवों के पितृऋण से अऋणहोऊं, वह (पुत्र) तुम से प्राप्त करना चाहता हूं। हे द्विजोत्तम ! हे सब वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! ॥३३॥ हे सज्जन शिरोमणे ! मुझे मन चाही सन्तान दीजिये जो शील रूप और गुण से युक्त हो और जिस से इक्ष्वाकुकुल की वृद्धि हो ॥ ३४ ॥ इस में वसिष्ठ जी को वेदवेत्ता इस लिये कहा है कि आप वेदोक्त नियोग धर्म को जानते हैं। हमारे पं० जी यह न कह उठें कि वसिष्ठ जी के वरदान मात्र से राजा के पुत्र होगया। नहीं २ उसी अध्याय में लिखा है कि राजा वसिष्ठजी को अपने घर अयोध्या ले आया ॥

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै ।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर । ३६॥

* इस श्लोक में व्यभिचार को ही सनातनधर्म माना है ॥

अर्थ- वशिष्ठ जी राजा के साथ "समय" पर जगद्विख्यात अयोध्यापुरी में पहुंचे। फिर—

राज्ञस्तस्याज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

अर्थ—उस राजा की आज्ञा से रानी जी वशिष्ठ की सेवा में उपस्थित हुई। फिर—

महर्षिः संविदं कृत्वा सम्बभूव तया सह।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषि ॥ ४४ ॥

अर्थ—उस देवी के साथ दिव्य (उत्तम) विधि से श्रेष्ठभागी महर्षि वशिष्ठ समागम को प्राप्त भये। फिर—

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिपुङ्गवः।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४५ ॥

अर्थ=तब उन से उस रानी में गर्भ स्थित होने पर वशिष्ठ जी उसराजा से नमस्कृत अपने आश्रम को चले गये॥

अब तो "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" को वशिष्ठ महर्षि के दृष्टान्त से आप भी मानेंगे? इतने पर भी पुराण ही लज्जा के रक्षक समझे जावें तो उतथ्य की कथा महाभारत आदि पर्व अध्याय १०४ में देखिये—

अथोतथ्य इतिख्यातः आसीद्धीमानृषिः पुरा। ममता नाम तस्यासीद्भार्या परमसम्मता ॥ ८ ॥ उतथ्यस्य यवीयांस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम्। बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत ॥ ९ ॥ उवाच ममता तन्तु देवरं वदतांवरम्। अन्तर्वत्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ १० ॥ अयं च मे महाभाग! कुक्षावेव बृहस्पते।। औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत ॥ ११ ॥ अमेघरेतास्त्वं चाऽपि द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः। तस्मादेवं च न त्वद्य उपारमितुमर्हसि ॥ १२ ॥ एवमुक्तस्तया सम्यग्बृहस्पतिरुदारधीः। कामात्मानं तथात्मानं न शशाक नियच्छितुम् ॥ १३ ॥ संबभूव ततः कामी तया सार्धमकामया। उत्सृजन्तं तु तं रेतः सगर्भस्थोऽभ्यभाषत

॥१४॥ भोस्तात ! मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह संभवः। अल्पावकाशोभगवन् ! पूर्वं चाहमिहागतः ॥ १५ ॥ अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्त्तुमर्हति। अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः॥१६॥ जगाम मैथुनायैव ममतां चारुलोचनाम्। शुक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्या गर्भगतोमुनिः। पद्भ्यामरोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पते ॥ १७ ॥

अर्थात् प्राचीन कालमें एक उतथ्य नाम ऋषि होता भया,ममता नाम्नी बड़ी अच्छी उसकी स्त्री थी॥८॥ उतथ्य का छोटा भाई देवतों का पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पति ममता के पास गया ॥९ ॥ उस बड़े मधुरभाषी देवर से ममता बोली कि मैं तौ आपके बड़े भाई से गर्भवती हूं, इस लिये आप रहने दीजिये ॥ १० ॥ और हे बड़भागी ! यह उतथ्य का पुत्र मेरी कोख में है। हे बृहस्पते ! इसने यहां भी छः अङ्ग वाला वेद पढ़ा है ॥ ११ ॥ और आप का वीर्य भी व्यर्थ नहीं जा सकता और यहां दो की गुञ्जाइश नहीं इस लिये आज तौ मेरे पास आना योग्य नहीं॥१२॥ इस प्रकार उस बड़ी बुद्धि वाले बृहस्पति से उस(ममता) ने कहा भी परन्तु वह अपने कामको न रोक सका ॥१३॥ निदान वह कामी उस कामरहित के शिर हुआ और जब मैथुन करनेलगा तौ वह गर्भस्थ बोला कि ॥१४॥ चचा ! कामके वशीभूत न हूजिये। यहां दो की गुञ्जाईश नहीं है, जगह थोड़ी है और मैं पहले आपहुंचा हूं ॥१५॥ और आप का शुक्र भी वृथा नहीं जासकता। इस लिये तकलीफ़ न दीजिये। परन्तु बृहस्पति ने उस गर्भस्थ की एक न सुनी ॥१६॥ और उस से मैथुन के लिये पहुंच ही गया । क्योंकि उस की आंखें बड़ी अच्छीं थीं। जब गर्भगत मुनिने शुक्रपात होते जाना तौ बृहस्पति के शुक्र का मार्ग दोनों पैरों की एड़ियों से रोक दिया ॥ १७ ॥

ध० दि० पृ० २२ में "गणानां त्वा"के लज्जास्पद महीधरभाष्य का उत्तर तौ कुछ नहीं दिया किन्तु " पायुं ते शुन्धामि " इस पर स्वामी जी के भाष्य का उदाहरण दिया है, परन्तु यदि समस्त मन्त्र और उस का श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कृत भाष्य देख लेते तौ ज्ञात हो जाता कि उसमें गुरु का शिष्यको उपदेश है कि तेरे हाथ पांव आदि सब इन्द्रियां

शुद्ध और धर्मानुसारी रहें । विस्तरिपूर्वक इस का अर्थ हम ने वेदप्रकाश (वर्ष १ मास ८ पृष्ठ १२३) में लिख दिया है । वहां देख लीजिये । बैल से भोग प्राप्त करना यही है कि खेती आदि द्वारा भोग के पदार्थ प्राप्त करें । यदि "आप" भोग का मैथुन ही अर्थ लेते हैं तो ठाकुरजी को भोग लगाने में भोग शब्द का क्या अर्थ करियेगा ? इसका भी मन्त्रार्थसहित उत्तर यजुर्वेदभाष्य शङ्कासमाधान में वेदप्रकाश वर्ष १ मास ८ पृष्ठ १२५ में आचुका है॥

ध० दि० पृ० २३ पं० १ में–आश्वलायन में पिण्डदानादि लिखे हैं पिण्ड पितृयज्ञे अ० २ । ५ । ३ ॥ इत्यादि ॥

उत्तर-पिण्ड शब्द के आने मात्र से मृतक पितरों को लोकान्तर वा योन्यान्तर में भाग प्राप्त होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु पिण्ड (ग्रास) जीवतों को भोजनादि देना यथार्थ श्राद्ध है । हमारा वा स्वामीजी का यह तात्पर्य नहीं, न उन्होंने वा हमने कहीं यह लिखा कि भूत का अर्थ काल नहीं । किन्तु यह है कि भूत शब्द काल का पर्याय नहीं परन्तु विशेषण है । कोई आर्य अपने नाम के आगे " आर्य " लगा कर नहीं बोलता । और कोई बोले तो इस समय कुछ आवश्यक भी है, क्योंकि आपके साथी तो आर्यावर्त्तवासी और आर्यसन्तान होकर भी अनार्य (हिन्दू) पदको सिद्ध करने को ज़ोर लगाते फिरते हैं और आर्य पद से चिढ़ते हैं । तब बहुत अनार्यों में थोड़े से आर्य विशेषण सहित बोलें तो वृथा क्या है ॥ ? ॥

ध० दि० पृ० २५ पं० ५ में–क्या खूब ! भूत प्रेतादि ईश्वर के विरुद्ध रचे हुए प्रकट हो गये । इत्यादि ॥

उत्तर–हम यह नहीं कहते कि मनु के अतिरिक्त ईश्वर ने कुछ नहीं रचा, किन्तु यह कहते हैं कि मनु अध्याय १ श्लोक ३३–३९ में यह विरोध है कि सृष्टिकर्त्ता ऋषियों को लिखा है कि यक्ष राक्षस पिशाचों को ऋषियों ने बनाया । सो ये श्लोक मनु ने स्वयं बनाये नहीं प्रतीत होते क्योंकि श्लोक ३३ से अगले ३४ । ३५ । ३६ और ३९ का विरोध है । अतः माननीय नहीं । ४० वें श्लोक में कहे कृमिकीटादि के उत्पादन में भी वही दोष है । इन्हें भी ऋषियों ने नहीं किन्तु ईश्वर ने ही बनाया है । और यह तो आप ने खूब ही लिखा है कि "जो जगत् में विद्यमान है" भला जगत् में विद्यमान होना क्या इस बात का प्रमाण है कि वे ऋषियों ने रचे हैं ? ईश्वर ने नहीं रचे ।

वेद में केवल गाय घोड़े ही की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं लिखी किन्तु गाय घोड़े भेड़ बकरी से ऋषि मुनि पर्य्यन्त सब जगत् को ईश्वर का रचित होगा कहा है-

तस्मादश्वा अजायन्त के ये चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः। यजुः ३१। ८॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतंपृषदाज्यम्। पशूंस्तांश्चक्रे वाय-व्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ यजुः ३१। ३॥ साध्या ऋष-यश्च ये॥ ६१। ९॥

इन में अश्व, दोनों ओर दांत वाले, गौ, भेड़ बकरी इत्यादि जङ्गली और ग्रामीण पशु, ऋषि और साध्य मुनि पर्य्यन्त को ईश्वर ने रचा। यह वर्णन है अतः मनु के प्रक्षिप्त श्लोक माननीय नहीं॥

हमने जो भास्करप्रकाश पृष्ठ १५-१६ में मनु के "यक्षरक्षः पिशाचांश्च" इत्यादि श्लोक में परस्पर विरोध बताया था, उसको धर्मदिवाकर पृष्ठ २६ में "ये रूपाणि प्रति०" इस यजुर्मन्त्र से सङ्गत करके वेदानुकूल ठहराया गया है। परन्तु आपने मन्त्र का जो अर्थ लिखा है उससे भी १० ऋषियोंने यक्ष राक्षस पिशादि रचे' यह नहीं सिद्ध होता। फिर उस मन्त्रके अनुकुल इस मनुश्लोक को प्रामाणिक ठहराना अज्ञान नहीं तो क्या है। आगे धर्मदिवाकर पृष्ठ २७ में इतने दोष दिये हैं। १-असुर का अर्थ स्वार्थी करना कल्पना मात्र है। २-स्वार्थी अकाश में नहीं घूमते आकाश में राक्षसादि घूमते हैं। ३-निघण्टु में स्वधे पाठ है, उस का स्वधा कर लिया॥

उत्तर-१-असुषु प्राणेषु रमन्ते तेऽसुराः। इस प्रकार असुर का अर्थ स्वार्थ-परायण यौगिक है। २-स्वार्थी आकाशमें नहीं तो क्या ठोस जगह में घूमते हैं। और जिन्हें आप राक्षसादि मानते हैं वे भौतिक हैं वा नहीं, यदि हैं, तो वे कैसे घूमते हैं, यदि वे सामर्थ्यवान् हैं तो क्या वे कोई तपस्वी पुरुष हैं। यदि तपस्वी हैं तो उनका राक्षसादि निकृष्ट संज्ञा से क्यों व्यवहारकिया जाता है। ३-निघण्टु में स्वधे यहस्वधा शब्द का ही द्विवचन है। उसी का

व्यत्ययो बहुलम् ३। १। ८५

इस पाणिनीय सूत्र से स्वधयोः के स्थान में स्वधया यह वचन और विभक्ति का व्यत्यय जानिये। मिश्र जी के अर्थ में इतने अप्रमाण अर्थ हैं।

१-)रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः) पितरों का अन्न श्राद्ध में भक्षण करने की इच्छा से। २-(स्वधया चरन्ति) पितृस्थान में०। ३-(लोकात्) पितृयज्ञ-स्थान से। इन अर्थों में कोई प्रमाण नहीं। शतपथ का प्रमाण जो उल्मुक घुमाने के लिये दिया है वह हमारे अर्थ से विपरीत नहीं, क्योंकि उल्मुक जलती लकड़ी अर्थात् मसाल की जगह काम देने की वस्तु है जिन के प्रकाश से असुर भागते हैं वा अन्य हानियां दूर हो पड़ती हैं। इस मन्त्र का यदि श्राद्ध में भी विनियोग माना जावे तब भी मूलवार्त्ता जो यह थी कि यक्ष राक्षसादि मनुष्य में आवेश करके दुःख देते हैं सो तो सिद्ध नहीं होती॥

ध० दि० पृ० २७। २८ में अथर्ववेद के ६ मन्त्र और उन का अर्थ लिखा है, उन के किये अर्थानुसार भी देशभेद से मनुष्यो के आकार में थोड़ा २ भेद मुखादि अङ्गों का मान लें तो भी उन विकृताङ्गों का मनुष्यशरीर में योगियों के समान परकायप्रवेश सिद्धि को प्राप्त मानना क्या अज्ञान की बात नहीं? क्या वे अपने हाथ, पांव, मुख सहित किसी के शरीर में प्रवेश करके खेलने लगते हैं? वा शरीर छोड़कर केवल उनका आत्मा मात्र? यदि शरीर सहित, तो एक शरीर में अपर शरीर का प्रवेश असम्भव है और निः-शरीर आत्मा सब के एक चेतनमात्र हैं। तथा किसी को सुख दुःखादि देने में असमर्थ होते हैं। इस लिये आप जब तक डौरूवाज़ी का प्रमाण और विधि सिद्ध न करें तब तक केवल मनुष्यों ही के भेदरूप यक्ष राक्षसादि स्थूल देहधारियों का सिद्ध करना स्वामीजी के लेखपर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता। विस्तारपूर्वक मन्त्र और उन के अर्थ की इस छोटे से पुस्तक के उत्तर में आवश्यकता भी नहीं, तथा ग्रन्थ भी बहुत बढ़ जायगा॥

यदि आप मनुष्यों के ही भेदरूपान्तर नहीं मानते तो क्या गरुड़पुराण प्रेतकल्पस्थ-एकपादादिरूपैश्च देशभेदा हि मानवाः। को भी नहीं मानेंगे। जिन में मानव जाति के एक पादादि रूप लिखे हैं॥

ध० दि० पृ० २८। २९ में बृहदारण्यक के प्रमाणों से यह दिखलाया है कि पतञ्चल काप्य की पुत्री और स्त्री को गन्धर्व ने पकड़ रक्खा था। इत्यादि॥

उत्तर-वहां गन्धर्व नाम भूत प्रेतादि का नहीं किन्तु गन्धर्व एक प्रकार का वायु है जो वाणी का अधिष्ठाता है, जिस के उत्तम होने से वाणी सुन्दर मधुरादि गुण युक्त होती है। इस लिये निघण्टु १। ११ में गान्धर्वीवाणी का

नाम है। तथा इसी बृहदारण्य अध्याय ५ ब्राह्मण ६ में लिखा है कि—

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ, याज्ञवल्क्येति होवाच, यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतञ्च प्रोतञ्च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्च वायौ गार्गीति। कस्मिन्नु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति। (इत्यादि)

अर्थ—याज्ञवल्क्य से वाचक्नवी गार्गी ने पूछा कि यह सब तो जलों में ओत प्रोत है। जल किस में ओत प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गी! जल वायु में ओत प्रोत हैं। वायु किस में ओत प्रोत है? अन्तरिक्ष लोकों में। अन्तरिक्ष किस में? गन्धर्व लोकों में। गन्धर्व लोक किस में? आदित्य लोकों में। (इत्यादि)

इस से प्रतीत होता है कि जल वायु अन्तरिक्ष आदित्य के मध्यवर्ती ही गन्धर्व भी एक आकाशी जड़ पदार्थ है। जिस के बुरे प्रभाव से स्त्री और पुत्रों की वाणी पकड़ गई होगी जैसे वायु कमर पकड़ लेता है, अकड़ जाती है। इसी प्रकार यह भी जानिये॥

ध० दि० पृ० २९ में—वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः॥ लिखा है

उत्तर—इस में संन्यास से फिर गृहस्थ होने वाले को दूसरे जन्म में उल्कामुख नाम योनि मिलनी लिखी है; परन्तु जब तक यह सिद्ध न हो कि उल्कामुख कोई ऐसी योनि है जो मनुष्यों के शरीर में आवेश करके उन्हें सताती है। तब तक आपका पक्ष पुष्ट नहीं होता है। यूं तो अनन्त सृष्टि में असंख्य योनि हैं ही। जैसे पटबीजने की गुदा में चमक होती है ऐसे ही किसी जीवका मुखभी होगा उसी योनिका नाम उल्कामुख होना सम्भवहै॥

ध० दि० पृ० ३० में सुश्रुत के कुछ श्लोक लिखे हैं॥

उत्तर—हम ने जो भास्करप्रकाश पृ० १७ से दयानन्दतिमिरभास्कर में लिखे सुश्रुत का उत्तर दिया है वही उत्तर इन का भी जानिये। क्योंकि हमारे लेख का उत्तर कुछ भी न देकर नये श्लोक सुश्रुत के और धर दिये हैं उन में वही विषय है जो कि द० ति० भा० के प्रत्युत्तर में आचुका है और

आपके भी लिखे प्रमाणों में लिखा है कि-(शीतोष्णं प्राणिनो यथा) जैसे शरदी गरमी प्राणियों में प्रवेश करती है, ऐसे ही ग्रह। ग्रह इस कारण नाम धरा कि "गृह्णन्ति ये ते ग्रहाः" जो जबाड़ी कमर आदि में जकड़ देवे वे रोग ग्रह कहाते हैं। यदि उलटे सीधे पैर एड़ी वाले कोई योनिविशेष प्रेत हों तो अपने देह को छोड़ मनुष्य के देह में आवेश कैसे कर सकें। अंगरेज़ों का प्रमाण आप की ही छाती शीतल करेगा॥

ध० दि० पृ० ३२ में-नक्षत्रमुल्माभिहतं शमस्तु नः शन्नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः। अथर्व १९।९।९

उत्तर-सूर्यादि ग्रहों के गतिभेद से जो वायु जलादि के स्वभाव में परिणाम होता है और कभी मानुषीप्रकृति के प्रतिकूल होने में दुःखदायक होता है, उस के लिये यह परमेश्वर से प्रार्थना है कि इस प्रकार के दुःख हम को न हों, सदा शान्ति रहे। इस से किसी ग्रह की चेतनता और जान बूझ कर दुःख देना तथा दान जप पुरश्चरणादि से प्रसन्न होजाना नहीं पाया जाता। ऐतिहासिक लाभ मात्र के लिये जन्मपत्र ग्रहयुक्त बनाना स्वामी जी ने निषिद्ध भी नहीं कहा, किन्तु फलादेश का खण्डन किया है॥

ध० दि० पृ० ३३ में इतने तर्क हैं १-जिस के भाग्य में वैधव्य और पुत्र नहीं उस को नियोग क्या करेगा। २-रोग में औषध क्यों। ३-गायत्री से रक्षाप्रार्थना ठीक है तो डोरे धागे बान्धना भी ठीक है॥ ४-परमेश्वरकी कृपासे शस्त्रादि कुछ नहीं कर सकते, तो प्रह्लाद की कथा में अश्रद्धा क्यों? इत्यादि॥

उत्तर-१-यदि विधवा होनेका यह परिणाम समझ लिया जाय कि अब उसे पुत्रादि देना परमेश्वर ही नहीं चाहता, तो जिस पुरुष की स्त्री मरजावे उसे भी समझना चाहिये कि दूसरा विवाह न करूं, परमेश्वर नहीं चाहता कि मेरे सन्तान हों परन्तु प्रायः दूसरे विवाह से सन्तान होती हैं। और परमात्मा यदि विधवा होने से यह चाहता कि इसके सन्तान न हो तो वेद में पत्यन्तरविधान सन्तानोत्पत्ति के बहुत से मन्त्रों से उपदेश क्यों करता। देखो भास्करप्रकाश पृष्ठ १४९ से १३१ तक मनु ९। १७५-१७६॥ अथर्व ९। ५। २७-२८ तथा ५। १७। ८ मनु ८। २२६ पर कुल्लूक। याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, नारद, कात्यायन, अमरकोश द्वितीयकाण्ड मनुष्यवर्ग श्लोक २३ और उस की टीका महेश्वरकृत, मनु ९। ५९-६०-६१-६२-६३-६९ ऋग्वेद १०। १०। १० अथर्व

१८।१।११। तथा १८।३।१ के प्रमाणों से भले प्रकार नियोग सिद्ध है॥

२-रोग में औषध इस लिये कि जैसे कुपथ्य कर्म का फल रोग हुवा, वैसे सुपथ्य और औषध का फल भी परमात्मा की आज्ञानुसार ठीक यत्न किया जायगा तो अपना फल करेगा। देखो यजुः १२। ३६—

इमं मे अगदं कृत॥

इस में औषधि का फल रोग दूर होना लिखा है। चाहे इसी का महीधरभाष्य ही देख लीजिये। और-

ओषधीरिति मातरः। यजुः १२। ७८

महीधर के भाष्य का भावार्थ यह है कि "भोजन देने, व्याधि दूर करने आदि से उपकार करने वाली ओषधियें माता हैं॥" और—

सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये। यजुः १२। ८१

इस में महीधरभाष्य के अनुसार भी ओषधियों का फल नीरोगिता कहा है। इस प्रकरण में यजुर्वेद में ८२।८३।८४।८५।८६।८७।८८। ८९।९०।९१।९२।९३।९४।९५।९६।९७।९८। ९९।१००।१०१ में ओषधियों का माहात्म्य कहा है, ९७ वां यजुः तो बहुत ही सुगम और देखने योग्य है। यथा-

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥ १२। ९७॥

इस का अर्थ महीधर ने भी यही किया है कि ओषधि बलास=क्षयरोग अर्शस=बवासीर, उपचि०=श्लपदादि, और (शतस्य यक्ष्माणाम्) बहुत से रोगों, पकारु=मुख॥पकने आदि की नाशनी हैं॥

३-गायत्री से रक्षा करना परमात्मा से उत्तम बुद्धि मांगने से संभव है, क्योंकि उत्तम बुद्धिही सब प्रकार रक्षा कराती है। डोरा धागा आदि बांधना वैदिकसंप्रदाय नहीं, न डोरे धागों के देवता (नोनिया चमार आदि) वेदोक्त हैं न वे हैं, न परमात्मा के समान हैं, अतः गायत्री से रक्षा प्रार्थना को डोरे धागे तबीज़ की बराबरी करना वेदों और परमात्मा की बड़ी गुस्ताखी (अपमान) है॥

४-प्रह्लादादि की कथामें यदि परमेश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल भक्तरक्षा का वर्णन होता तो इस को कोई अवसर न मानने का न था॥

इस ने भास्करप्रकाश पृ० २१ में कहा था कि पाप से बचने की प्रार्थना के मन्त्र जो जपेगा, उसीका हृदय शुद्ध और दुर्वासनाओं से रहित होगा, ब्राह्मणों के जपादि से यजमान की पापनिवृत्ति कैसे होगी ? उस पर धर्मदि० पृ० ३५ में लिखा है कि-

गुणेषु प्रतिनिधिः परार्थत्वात् ॥ कात्या० १ । ६ । १० सत्रेषु तु श्रुतेः ॥११ ॥

परार्थ होने से गुणों में प्रतिनिधि होते हैं। यज्ञादिपूजन कर्ममें यजमान की ओर से ब्राह्मण प्रतिनिधि होते हैं। इत्यादि ॥

उत्तर-कर्मयज्ञ में बाहरी कर्मों के करने वाले होता अध्वर्यु आदि ऋत्विज् होते हैं यह सूत्रकार का तात्पर्य है। परन्तु जो कार्य साक्षात् यजमान को ही करने कहे हैं उन को अन्य प्रतिनिधि होकर नहीं कर सका। यदि सब कार्यों में प्रतिनिधि होसका तो यजमान और उस की पत्नी आदि का यज्ञ में काम ही न रहता, केवल दक्षिणा देदेता। तथा जपयज्ञ जो कि अपने ही आत्मा के सुधार को किया जाता है जैसे सायं प्रातः सन्ध्योपासनादि हैं ऐसे कर्मों में प्रतिनिधि कहीं किसी शास्त्र में नहीं बतलाया न कहीं इतिहास पुराण में इस का प्रमाण है, न लोक में अन्य के स्थान में अन्य सन्ध्यादि करता देखा जाता है। इस लिये अघमर्षणादि पाप बचने=छूटने के मन्त्रों का जप और उनके अर्थ का ध्यान उसी पुरुषको करना चाहिये जिस को फल अभीष्ट ॥

ध० दि० पृ० ३५ शौनक की शैली नई कैसे विदित होती है, इसके नूतन में आप को प्रमाण क्या है ॥

उत्तर-अनेक व्यर्थ चकार और श्लोक की बनावट प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये श्लोक नूतन समय के हैं ॥

धर्मदि० पृ० ३६ पं० २४ इस में कोई अर्थ नहीं बदला ॥

उत्तर-केवल अर्थ ही नहीं, किन्तु पाठ भी बदला है ॥ देखो सत्यार्थप्रकाश पृ० ३५ में तो यह पाठ है कि "उच्चासन पर बैठावे" आप के दाता जी ने द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में "बैठा" लिख दिया, जिस से बड़े को बैठाने के बदले छोटे का उच्चासन पर बैठना अर्थ होगया। फिर क्यों लोगों को भूल में डालते हो कि "इस में कोई अर्थ नहीं बदला"।

ध० दि० पृ० ३७ पं० २३-पहली आवृत्ति में लड़के को तीतर का मास खुलाकर पण्डित बनाया है परन्तु यह तो बताओ, बड़े पुरुष छोटों को आशीर्वाद दें यह कहां लिखा है ॥

उत्तर-तीतर का मास खुलाना प्रथमावृत्ति में था, उस का कारण आपके माननीय गृह्यसूत्र थे, जिन के वेदविरुद्धांश मांसभक्षण को जानने पर पीछे दूसरी आवृत्ति में स्वामी जी ने नहीं लिखा, त्याग दिया, परन्तु आप का आक्षेप तो गृह्यसूत्रकार पर होना चाहिये, न कि स्वामी जी पर क्योंकि आप गृह्यसूत्रों को सर्वांश मानते हैं तदनुसार मांस खुलाना आपका मत रहा। संस्कारविधि पृ० ८० पं० २१ में देखिये बड़ों की ओरसे छोटोंको आशीर्वाद भी लिखा है। तथा अन्य कई स्थलों पर भी हैं॥ प्रेस तो अब ("तन्त्रप्रभाकर" नामसे आपके पास भी है, तद्विषयक आक्षेप समान है। द० ति० भा० ३००० छपने पर भी ३) मूल्य लागत से छः गुणा है वा नहीं ?

अथ तृतीयसमुल्लासमण्डनम्

ध० दि० पृ०४१ पं०२६ इसका अन्वय इसप्रकार है कि "ब्रह्मचर्येण युवानं पतिं कन्या विन्दते ७" अर्थात्-ब्रह्मचर्य से युवा हुए पतिको कन्या प्राप्तहो॥ उत्तर-इसको तो अर्थ बदलना न कहोगे?धन्य!यदि कर्तृपदकन्याका सम्बन्ध यहां ब्रह्मचर्य से न मानोगे तो आगे आप के ही लिखे मन्त्रों में-

अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाऽश्वो घासं जिगीषति ॥

यहां भी अनड्वान् और अश्व इन कर्तृपदोंका भी ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध न मानना चाहिये॥

ध० दि० पृ० ४२ में "एकश्रुति दूरात्सम्बुधौ" यह सूत्र और भाष्य तथा भाष्यप्रदीप लिख दिया है,परन्तु यह किस शब्द का अर्थ है कि ऋत्विज् लोग स्त्री अ यज्ञ में मन्त्र कहवा दिया करें, स्त्री स्वयं पढ़ी न हो ?

ध० दि० पृ० ४१ वैवाहि० मनु० का प्रमाण देकर स्त्री को वेदाध्ययनका अनधिकार बताया है परन्तु इस श्लोकमें निषेधका वाचक १अक्षरभी नहीं यदि आप इसको प्रक्षिप्त न भी माने तो हम इसका अर्थ भास्करप्रकाशपृ० ५४ में कर चुके हैं॥

ध० दि० पृ० पं०२ 'उपेत्य' का अर्थ "समीप जाकर" है 'यज्ञोपवीत' नहीं ॥

उत्तर-तो आप के मत में योगरूढ अर्थ ही नहीं, यदि ऐसा हो तो "उपनयन" का अर्थ भी "समीप लेजाना" ही करियेगा? उपनयनसंस्का-

रान्तर्गत यज्ञोपवीत धारण न मानियेगा? यदि आप स्त्री को पढ़नेका निषेध करते हैं तो कोई वचन उसको अनधिकार का बाधक लिखा होता, सो न तो पं० ज्वालाप्रसाद जी से बना, न आप से॥

प० दि० पृ० ४१ से ५१ तक गायत्री प्रकरण पर पिष्टपेषण मात्र है, कोई नई बात नहीं, जिस का उत्तर आवश्यक हो॥

प० दि० पृ० ५४ में-भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णाम्० इत्यादि महाभारत वन पर्व अध्याय २६२ का प्रमाण देकर कहा कि मध्याह्न संध्या इस से सिद्ध है। इसमें एकतो यह बात नहीं लिखी है कि उन्होंने संध्याकी है। किन्तु अघमर्षण अर्थात् अघ जो मल उस का मर्षण दूर करना भी अघमर्षण का अर्थ हो सक्ता है। दूसरे यदि अघमर्षण सूक्तके पाठका तात्पर्य होता तो कृत्वा= करके, न कहते, किन्तु जपित्वा=जप कर, ऐसा कहते। तीसरे यह भी मानलें कि अघमर्षण सूक्त जपना ही वहां निकलता है, तो केवल अघमर्षण मात्र का नाम तो संध्या करना नहीं। चौथे यह भी संभव है कि पाण्डव वनमें अवसर पाय प्रातःकाल ही भोजन कर बैठे हों, तभी प्रातः ऋषि आगये हों, स्पष्ट मध्याह्न शब्द तो इस प्रकरण में आया ही नहीं। पांचवें किसी कारणऋषियों को उस दिन प्रातः संध्या ही को अतिकाल होगया हो। छठे यदि मध्याह्न संध्या करने जाते तो भोजन करके जाते, नकि भोजन से पूर्व, क्योंकि आधुनिक मध्याह्न सन्ध्याओं के मन्त्र "यदुच्छिष्टमभोज्यं च" इत्यादि से भोजनोत्तर संध्या करना पाया जाता है। सातवें यदि भोजनसे पूर्व मध्याह्न संध्या करने गये, तो स्नान की क्या आवश्यकता थी, क्या प्रातः संध्या में स्नान न करचुके थे? । ८ वें यदि संध्याके मध्याह्न में करने का महाभारतके समय में भी प्रचार था, तो किसी श्रुति स्मृति में इस का विधान क्यों नहीं?

प० दि० पृ० ५५ पं० १३ स्वामी जी की आकृतियों में कोई प्रमाण नहीं है परन्तु हम दिखाते हैं। स्वामीजी की पात्र कल्पना ठीक नहीं। बाहुमात्र्यः स्रुचः पाणिमात्रपुष्करास्त्वग्बिला हंसमुखप्रसेका मूलदण्डा भवन्ति। अरत्निमात्रः स्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः ३६ कात्या० सू०॥

उत्तर—यदि आप स्वामीजी कृत संस्कारविधि पृष्ठ १७ में देखते तो आप को प्रमाण मिल जाता, सत्यार्थप्रकाश में यह समझ कर नहीं लिखा कि संस्कारविधि में जिस को देखना होगा, देख ही लेगा, यहां ग्रन्थ बढ़ाना ठीक नहीं। देखो संस्कारविधि पृ० १८ में:—

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्करा। षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला हंसमुखप्रसेकाः। मूलदण्डाश्चतस्रः स्रुचो भवन्ति। (तत्र) पालाशी जुहूः। आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा। अग्निहोत्रहवणी च। अरत्निमात्रः खादिरः स्रुवः अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः। तथाविधो द्वितीयोवैकङ्कतः स्रुवः॥

इत्यादि पृष्ठ १८ तक पात्रोंके ही प्रमाण हैं जो हम यहां विस्तारभय से नहीं लिखते अर्थात् बाहुमात्र लम्बी, पाणिमात्र मुख वाली, छः अङ्गुल खोदी हुई, त्वचा में बिल वाली, हंसतुल्य मुखप्रसेक वाली, मूल में दण्डे लगी हुई चार स्रुच् होतीहैं। १ जुहू जो पलाश की हो। २ उपभृत् जो पीपल की हो ३ ध्रुवा जो विकङ्कत की हो। ४ अग्निहोत्रहवणी भी ३ री के काष्ठकी हो। अरत्निमात्र (२४ अङ्गुल) का स्रुव खदिर के काष्ठ का हो, अङ्गूठे के पोरुवे बराबर मुख वाला, वैसा ही दूसरा विकङ्कत का स्रुव होताहै परन्तु स्वामी जी ने ज्यों के त्यों सूत्र उद्धृत नहीं किये हैं, क्योंकि लोगों को उनके समझने में कठिनाई थी जैसा कि ३२ वें सूत्र में "खादिरःस्रुवः" कहा फिर ३८ वें में "अरत्निमात्रः स्रुवोङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः" लिखा है। इस लिये स्वामीजी ने कात्यायन श्रौतसूत्र और उसके कर्काचार्य याज्ञिक देवादिकृत पद्धतियों और भाष्यों का सारांश लेकर ऊपर लिखा पात्रपरिमाण और पात्राकृति लिखी हैं। मूल कात्यायन सूत्र इस प्रकार है—

खादिरः स्रुवः १। ३। ३२ स्फयश्च ३३ पालाशी जुहूः ३४ आश्वत्थ्युपभृत् ३५ वारणान्यहोमसंयुक्तानि ३६ बाहुमात्र्यः स्रुचः पाणिमात्रपुष्करास्त्वग्बिलाहंसमुखप्रसेका मूलदण्डाभवन्ति ३७ अरत्निमात्रः स्रुवोङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः॥ ३८॥

इस लिये आप का यह लिखना ठीक नहीं कि इस विषय का स्वामी जी का लेख प्रमाणरहित वा असत्य वा स्वकल्पित मात्र है। किन्तु उनका लिखना आम्नायानुकूल है। परन्तु आपने जो ठीक सूत्रके अक्षर लिखने का उद्योग करते हुवे भी ३७ और ३८ सूत्रों का एक करके ३६ का अङ्क लिखा है,

इस में आप का प्रमाद अवश्य है। यदि आप चाहें तो हम जितना पाठ स्वामी जी ने संस्कारविधि पृ० १७ और १८ में लिखकर जो २ पात्रों के आकार लिखे हैं, वे सब कात्यायनश्रौतसूत्र और कर्काचार्यादि की पद्धति और भाष्यों में से निकाल कर दिखला और लिख सकते हैं, भरोसा रखिये॥

आगे पृ० ५६ से ७३ तक में भास्करप्रकाश और द० ति० भास्कर की बातों को ही प्रायः दुहराया है, इसलिये हमको कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं

प० दि० पृ० ७३ महाभारत २४००० उपाख्यान रहित है। सब एक लक्ष है। एक वाक्य लिखकर दूसरा छिपाना क्या अन्याय नहीं है? देखिये पहले लक्ष श्लोक किये उपाख्यान के विना २४००० सहस्र हैं॥

इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमद्य भारतमुत्तमम्॥

इस के आगे चतुर्विंशति-

उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

उत्तर-आप के लिखे (इदं शतस०) श्लोक के आगे चतुर्विंशति साहस्रीं० पाठ नहीं है, जैसा कि आप बताते हैं। किन्तु इस से पूर्व तो यह पाठ है:-

वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम्।
दुर्वृत्तं धार्त्तराष्ट्राणामुक्तवान्भगवानृषिः॥ आदिपर्व १००
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ १०१॥

अर्थात् कृष्ण की बड़ाई, पाण्डवों की सचाई और धृतराष्ट्र के पुत्रों की बुराई भगवान् ऋषि (व्यास) ने वर्णित की है॥ १००॥ यह भारत संहिता २४००० बनाई थी। उपाख्यानों को छोड़ कर इतने (२४०००) को ही विद्वान् लोग भारत कहते हैं॥ १०१॥

अर्थात् उपाख्यान पीछे से बढ़ाये गये हैं, उपाख्यान का अर्थ उप-आख्यान, आख्यान व्यास जी ने लिखे, पश्चात् उपाख्यान अन्यों ने बढ़ाये। यही बात आप के श्लोक (इदं शतसह०) से निकलती है कि सूत जी कहते हैं कि (अद्य) आज कल (इदम्) यह (शतसहस्रं तु) एक लक्ष तो (पुण्यकर्मणाम्

लोकानाम्) पुण्य करने वाले लोगों के (उपाख्यानैः) उपाख्यानों के (सह) मिलने से (उत्तमं भारतं ज्ञेयम्) उत्तम भारत जानिये ॥

अर्थात् ऋषि ने २४००० भारत बनाया था जो उपाख्यानों से रहित था, आज कल उपाख्यान मिलाकर एक लाख है। परन्तु एक लाख की भी विचित्र गति है। इस की न्यूनाऽधिकता का वृत्तान्त भास्करप्रकाश समुल्लास ११ पृष्ठ ३५८। ३५९ में देखिये कि क्या विलक्षणता और बे ठिकानापन है॥

ऋचां त्व० इस मन्त्र में जो हमने होता उद्गाता अध्वर्यु ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों का वर्णन किया था, उसपर पं० बलदेवप्रसादजी लिखते हैं कि ध० दि० पृ० ७६ पं० ११ ऋक् में आपने होता उद्गाता अध्वर्यु के नाम दिखाये यह तीनों शब्द आपने ऊपर से कल्पना किये॥

उत्तर-हमने अपनी कल्पना नहीं की किन्तु निरुक्त में भी इस मन्त्र की यही व्याख्या देखी। आप को भी दिखाते हैं। देखियेः—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्

इत्यादि ऋचा का निरुक्त अध्याय १ खण्ड ८-

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते होतर्गर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता (इत्यादि)

इस से स्पष्ट है कि यास्कमुनि भी हमारे समान इस मन्त्र में होताउद्गाता अध्वर्यु ब्रह्मा का कर्म विनियोग मानते थे। तथा ब्रह्मा का नाम तौ मन्त्र में साक्षात ही आया है, जो आप भी शेष तीनों का नाम लिखते २ जान बूझ कर ब्रह्मा का लिखते हिचकिचा गये कि मन्त्र में नहीं बतावें, तौ काम न चलेगा॥

ध० दि० पृ० ८१ में-व्याकरणशास्त्र सूत्रबद्ध है उस में कोई इतिहासकथा नहीं काशिका कौमुदीकार ने सूत्रों की वृत्ति लिखी हैं, इस में श्रीकृष्ण की क्या निन्दा है, कौमुदी में कृष्ण की निन्दा दिखाइये तौ। (इत्यादि)

उत्तर-कौमुदी में कृष्ण की निन्दा सुनिये-

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १। ४। ३४

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः संप्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा।

(सिद्धान्तकौमुदी का कारक संप्रदानप्रकरण) यथार्थ यह है कि जिस काल में जो ग्रन्थ बनता है उस काल की प्रधान २ बातों का गन्ध और ग्रन्थ-कर्त्ता जिन बातों को मानता है, उस के विचार का गन्ध उस ग्रन्थ में अवश्य रहता है। उदाहरण के लिये कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के समय के गन्ध, गोपी का कृष्ण पर कामदेव के अधीन होना आदि उदाहरण के मिष से आगया। स्वामी जी मूर्त्तिपूजादि को नहीं मानते थे, उन के व्याकरण के टीकाग्रन्थों में मूर्त्तिपूजा के खण्डन का गन्ध आ ही गया है। इस में बुरा मानने की क्या बात है। स्वामी जी ने व्याकरणादि सभी विषयों के ऋषिकृत ग्रन्थ पढ़ने और अनार्ष न पढ़ने का नियम इसी लिये करना चाहा था कि सब ऋषियों के ग्रन्थों से ऋषियों के पवित्रविचारों का गन्ध विद्यार्थी में समाजावे॥

घ० दि० पृ० ८२ में—विरोध तो जब होता वैशेषिक द्रव्य को पदार्थ मानता तर्क संग्रह वाला कहता यह पदार्थ नहीं, तो विरोध होता। वैशेषिक ने उस के अन्तर्गत माना है तर्कसंग्रह ने खोलदिया विरुद्ध कोई बात नहीं और न्यायशास्त्र वाले ने प्रमाण०—निग्रहस्थान १६ पदार्थ माने तो यह कहो यह वैशेषिक के विरुद्ध है कभी नहीं। थोड़े पदार्थों में विशेष का अन्तर्भाव रहता है इस कारण तर्कसंग्रह वैशेषिक के विरुद्ध नहीं। यदि न्याय में पैर अड़ावो तो अभाव का खण्डन करो "घटाऽभाववत् भूतलम्" इसी वाक्य को खण्डन करो॥

उत्तर—जानना चाहिये कि तर्कसंग्रह छः दर्शनों में से किसी एक की व्याख्यारूप है, वा वार्त्तिक रूप है, वा कोई स्वतन्त्र सातवां दर्शन है? यदि स्वतन्त्र ७ वां दर्शन, नहीं है तो उसे पूर्व छः दर्शनों में से किसी एक के मूल को लेकर चलना चाहिये था। यदि कहो कि वैशेषिक ने अभावको अन्तर्गत माना था तो छहों पदार्थों में किस के अन्तर्गत माना था? वा छहों के अन्तर्गत माना था? और किस प्रकार अन्तर्गत माना था? यदि छहों में से एक के अन्तर्गत माना था तो किस के? न्यायदर्शन के १६ पदार्थ सर्वथा अन्य हैं वैशेषिक के छः की तोड़ फोड़ उन में नहीं हैं। किन्तु यदि द्रव्यादि छहों में अभाव अनुगत होने से अभाव को पृथक् पदार्थ लिखा तो द्रव्यादि छहों में अनुगत भाव (सत्ता) को भी ८ वां भाव पदार्थ करके खोलना चाहिये था। प्रत्युत—

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता १ । २ ७
द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

इन वैशेषिक सूत्रों के अनुसार सत्ता (भाव) को छहों से भिन्न परन्तु छहों में अनुगत पदार्थ मान कर फिर भाव की अर्थापत्ति से अभाव पदार्थ का स्वीकार करना था । " घटाऽभाव० " का खण्डन हम क्यों करें । हम क्या अभाव के मानने का निशेध करते हैं ? किन्तु यदि भाव को छहों में अनुगत मान कर काम चलाते हैं तौ अभाव को भी इसी प्रकार मानना चाहिये, यह कहते हैं ॥

धo दिo पृo८३ पंo २ में-"देवता पूजयित्वा"देवता पूजन करे इत्यादि वाक्य तौ आप छोड़ गये ॥

उत्तर-आप का अनुवाद भी प्रशंसनीय है कि पूजयित्वा=पूजन करके, इस पूर्वकालिक-क्रिया का " पूजन करे " यह विधि अर्थ कर डाला॥हमने इस लिये छोड़ दिया कि देवपूजा का अर्थ हवन करना आदि हमको संमत है तौ इस का प्रतिवाद-अकर्त्तव्य है ॥

धoदिoपृo८३ पंo५ में=मन्त्रब्राह्मण का नाम वेद है प्रतिपादित किया है पंo तुलसीराम जी पृo ६० में यह बात मान चुके हैं ॥

उत्तर-हमने जैसा माना है उसे भास्करप्रकाश पृo ५९ पंo २९ से पृo ६० पंo १० तक देखिये ॥

धo दिo पृo ८४ पंo १ से...ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् नाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यादि आश्वलाo

उत्तर-जादू तौ वह जो शिर पै चढ़ के बोले । आप के दिये प्रमाण में यदि ऋचः, यजूंषि, सामानि, अथर्वाङ्गिरसः इन शब्दों का वाच्य चारों वेद हैं और ब्राह्मण वेद का एक भाग है तौ इस प्रमाण में ब्राह्मणानिपदपृथक् क्यों आया ? इस से जाना जाता है कि ग्रन्थकार वेद से भिन्न ब्राह्मण को समझता था ॥

हमने जो भास्करप्रकाश पृo ६७ में लिखा है कि "जो ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ता है जो कि कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण कहते हैं" इस पर-

धo दिo पृo ८४ पंo १५ से-यदि ऐसा होता तौ यानि और कथ्यन्ते'दो पद"और होते तथा ब्राह्मणानि के विशेषण होते इस में ब्राह्मणानि नपुंसक कल्पान् पुंलिङ्ग गाथा नाराशंसी स्त्री० इतिहासः पुंलिङ्ग एकवचन पुरा-

यानि फिर बहुवचन यह सब भिन्न २ पड़े हुवे हैं, तथा वचनों में भेद है, इस से कभी ब्राह्मणग्रन्थों के विशेषण वा उन के नामान्तर नहीं होस सकते॥

उत्तर-यानि और कथ्यन्ते का अध्याहार हो सकता है और अध्याहार के न होने पर भी यह अर्थ समझा जा सकजा है। नियत लिङ्ग पद, भिन्न लिङ्गों और वचनों के विशेषण हो सकते हैं। और इन्, वेदाः प्रमाणम्। भवन्तः प्रमाणम्। इत्यादि शिष्टप्रयोग क्या आप ने नहीं देखे ? जिन में व्यधिकरण विशेषण है समानाधिकरण नहीं हैं॥

ध० दि० पृ० ८६ पं० १३ इतिहास त्रित का दिखाया पुरावृत्त सुनिये। सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्। सूर्य चन्द्र जैसे पूर्व कल्प में बनाये थे इत्यादि॥

उत्तर-यहां त्रित के इतिहास का उत्तर देना आवश्यक नहीं क्योंकि भास्करप्रकाश पृष्ठ २०१ में सविस्तर उत्तर दिया है। सूर्याचन्द्रमसौ० इसमें पुरावृत्त नहीं है। आप को अकल्पयत् क्रियापद देखने से भ्रम हुआ होगा। सो

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ३।४।६

इस सूत्र से कालसामान्य में लङ् लकार है, भूतकाल में नहीं है॥

ध० दि० पृ० ८७ पं० १६ से-य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। न्याय भा० जो मन्त्र ब्राह्मण के तप से देखने कहने वाले हैं वही इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र के कहने वाले हैं॥

उत्तर-इस से तो केवल यह सिद्ध होता है कि इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र का भी प्रमाण मानना चाहिये क्योंकि मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोगों ने ही इतिहासादि बनाये हैं। परन्तु यह इस से नहीं सिद्ध होता कि भागवतादि को पुराण वा इतिहास कहते हैं। न यह सिद्ध होता कि भागवतादि में लिखी असत्य कथा सत्य हैं। किन्तु ऋषिकृत इतिहास पुराण वा धर्मशास्त्र को जो मनुस्मृति आदि वा उपनिषदादि में लिखे हैं, यदि पूर्वापरविरोधरहित और वेदानुकूल हों तो प्रमाण मानना चाहिये॥

ध० दि० पृ० ८७ पं० २०-प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहास पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। न्या० भा०

उत्तर-इस का अर्थ आप का पक्षपोषक नहीं। इस में केवल यह कहा

है कि ब्राह्मण के प्रामाण्य से इतिहास पुराण का प्रामाण्य समझा जाता है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन कथाओं का मूल है, उन्हीं कथाओं को अन्य इतिहासपुराण के पुस्तक कहें तो प्रामाणिकता आई अथवा ब्राह्मणके प्रमाण होने से ब्राह्मणान्तर्गत इतिहास पुराण प्रमाण हुवे। इस से ब्रह्मवैवर्त्तादिकी असम्भव कथाओं को प्रामाणिकता का पद नहीं मिलता॥

धर्म० दि० पृ० ८८ पं० २१ में—स बृहतीं दिश० इत्यादि॥

उत्तर—इस का उत्तर भास्करप्रकाश पृ० ६५१ में आचुका है।

ध० दि० पृ० ८८ पं० १३ से-पुराण सनातन से हैं व्यास जी ने संक्षेपकर के अठारह नाम किये हैं, देखो लिङ्गपुराण पहला अध्याय तथामत्स्यपुराण और इसी कारण मनु जी लिखते हैं॥

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च। मनु० १
अधीयन्ते पुराणानि धर्मशास्त्राण्यथापि च। भा० २
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम्। वाल्मी० ३
दशमेहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत। सू० ४

उत्तर-आप का तात्पर्य यह हुवा कि पुराण प्रथम भी थे, कुछ व्यास जी ने नवीन नहीं रचे, किन्तु संक्षेप मात्र किया। यदि आप का यह मत है और आप उन वास्तविक पुराणों का पुस्तक कोई वर्त्तमान में उपस्थित नहीं बताते तो स्वामी जी का पक्ष यह तो था ही नहीं कि भारत में पूर्वकाल में इतिहास लिखने की परिपाटी न थी, किन्तुउपस्थित१८पुराणोंको वे कहते थे कि ये व्यासकृत और सत्य नहीं हैं। इस से पहले ब्राह्मण ग्रन्थोक्त इतिहासों को स्वामी जी ने पुराणेतिहाससंज्ञक माना ही है औरयदिअन्य कोई भी थे, जिन से आप साम्प्रतिक १८ पुराणों को संक्षेप भाव से निकला बताते हैं, यदि उन में से कोई अब रहा ही नहीं तो विवाद व्यर्थ है। यदि कोई आप प्रस्तुत करें तो यह विचार उस समय किया जा सकता है कियह वेदादिसच्छास्त्रों और प्रत्यक्षादि ८ प्रमाणों के विपरीत तो नहीं है? यदि विपरीत होगा तो अमान्य और अनुकूल होगा तो मान्य किया जायगा॥

ध० दि० पृ० ९० पं० ९ से=हम आप से पूछते हैं सूत्रों में ब्राह्मण पद आने से आप क्या बताते हैं॥

(उत्तर)-शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थ। प्रश्न-इस में नाम तो नहीं है सामान्य शब्द है। उत्तर-नाम नहीं तो क्या है पर इस से ब्राह्मणों ही का ग्रहण है, तो बस जब कि ब्राह्मण पद से बिना नाम आये आप ब्राह्मण लेते हैं तब हम विना नाम आये बहुवचन पुराण शब्द से १८ पुराण क्यों न लें॥

उत्तर-सूत्रों में ब्राह्मणपद आने से ब्राह्मण विशेष शतपथादि का नाम न आने पर भी शतपथादि का ग्रहण इस लिये करना चाहिये कि सूत्रकार के समय में शतपथादि ब्राह्मण उपस्थित थे, परन्तु पुराण पद से ब्रह्मवैवर्त्तादि १८ पुराणों का ग्रहण इस लिये नहीं होसकता कि आपही के पृष्ठ ८८ के लेख से सिद्ध है कि प्रथम कोई अन्य पुराण थे, पश्चात् व्यास जी ने १८ संक्षिप्त बनाये। तो व्यास से पूर्वरचित सूत्रग्रन्थों में आये पुराण शब्द से इन १८ का ग्रहण नहीं हो सकता, हां अन्य कोई होंगे, जिन्हें आप अब उपस्थित नहीं पाते, हम कहते हैं कि वे ब्राह्मणान्तर्गत ही इतिहास होंगे॥

ध० दि० पृ० ९१। ९२ में तिलकों को सम्प्रदाय का चिह्न मात्र बतलाया है कि जैसे आर्यसमाजी टोपी पर ओ३म् लगाते और चन्दनलेपन भी करते हैं इत्यादि॥

उत्तर-यदि चिह्नमात्र है तो फिर तिलकों में परस्पर लड़ाई क्यों है? तथा सब को एक सम्प्रदाय ही ग्राह्य क्यों नहीं? एक दूसरे का सम्प्रदाय छुड़ा कर अपने २ सम्प्रदाय की वृद्धि क्यों करते हैं? यदि कहो कि जैसे आर्यसमाजी अपने संप्रदाय की वृद्धि करते, अन्यों का खण्डन करते हैं, वैसे ही शैव शाक्तादि भी वैष्णवादि का खण्डन करके अपने तिलकादि की प्रशंसा तथा अन्यों की निन्दा करते हैं, तो भला आर्यसमाजी तो अन्य वेदविरोधी शैव-शाक्तादि संप्रदायों को मिथ्या समझ कर उन का खण्डन और वैदिक धर्म को सत्य मानकर उस का मण्डन करते हैं, परन्तु हिन्दू लोगों के शैव शाक्तादि संप्रदायों में जब आप के विचारानुसार सभी सत्य हैं तो वे परस्पर एक दूसरे के देवता, तिलक तथा अन्य चिन्हों की निन्दा और अपनों की स्तुति क्यों करते हैं?

ध० दि० पृ० ९२। ९३ में विशुद्धानन्द जी आदि की सम्पत्ति से उपकार और स्वामी दया०सर० जी की वैदिकयन्त्रालयादि सम्पत्ति से उपकार का अभाव बताया है॥

उत्तर-प्रथम तौ स्वामीजी ने लोरों आदि स्थानों में अनेक पाठशालायें खोलीं, उन में अनेक विद्यार्थियों को भोजन वस्त्र विद्या का दान किया, जो अब तक जगत् का उपकार कर रहे हैं। दूसरे वैदिकयन्त्रालयभी शीघ्र जावे तौ बड़े भारी उपकार का काम है। विचारने की बात है कि वैदिक यन्त्रालय के द्वारा सहस्रों पुस्तकें देशदेशान्तरों में फैली, जिन से सदुपदेश पाय, वैदिकधर्म का अवलम्बन कर, लक्षों आर्यों ने आज तक वैदिकधर्म का प्रचार किया, पाठशालायें खोलीं, अनाथालय नियत किये, उपदेशकों की जीविका नियत कीं, विद्यार्थियों का भरण पोषण विद्यादान के प्रबन्ध किये, सहस्रों को ईसाई मुसलमान होने से बचाया, मृतप्राय संस्कृत भाषा और देवनागरी अक्षरों का पुनरुज्जीवन किया। इत्यादि सब कुछ स्वामी जी के वैदिकयन्त्रालय स्थापित करके ग्रन्थों के प्रचार के फलरूप जगद्विख्यात परोपकार हैं। इतने पर भी यदि इस देश के निवासी विशेष कर सनातनधर्माभिमानी लोग उन के उपकार को न माने तौ यह दुःखकी बात है कि इस समुदाय में कृतघ्नता इतनी बढ़ गई। परमात्मा कृपा करे॥

यह भास्करप्रकाश के तृतीयसमुल्लास का खण्डन और धर्मदिवाकर का उत्तर समाप्त हुवा॥